अन्तर्दर्शन

० प्रवचनकार

आचार्यश्री नानेश

० सम्पादक

शान्तिचन्द्र मेहता

० प्रकाशक

श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ

समता भवन, बीकानेर–३३४००१ (राज.)

० **प्रथम संस्करण १९८८**

० मूल्य रु. १४)

० मुद्रक

जैन आर्ट प्रेस, समता भवन, बीकानेर

प्रकाशकीय

दुग्ध के साथ धवलता कब से चली आ रही है ? अग्नि के साथ उष्णता का सम्बन्ध कब से है ? इन विषयों की प्रादुर्भूति के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता । जब से दुग्ध है, तभी से उसकी धवलता है । जब से अग्नि है तभी से उसके साथ उष्णता का सबन्ध बना हुआ है । ठीक इसी प्रकार जब से भू, तोय, अनल, अनिल आदि प्राणी समूह एवं जड़ तत्त्व चले आ रहे हैं, तभी से धर्म एवं संस्कृति चली आ रही है । साधुमार्ग का इतिहास भी उतनी ही प्राचीनता को लिये हुए है ।

"तिन्नाण तारयाण" के आदर्श आचार्य प्रवर ने योग्य मुमुक्षुओ को दीक्षित किया, और जो देशव्रती बनना चाहते थे उन्हे, देशव्रती बनाया। इस प्रकार सहज रूप से ही चतुर्विध सघ का प्रवर्तन हो गया।

समुद्र मे जिस प्रकार दूर तक गगा का पाट दिखलाई देता है वैसे ही जैन धर्म के समुद्र मे आचार्य प्रवर की यह धारा एकदम अलग-थलग सी परिलक्षित होने लगी। यहा से फिर साधुमार्ग मे एक क्रान्ति घटित हुई। जिस क्रान्ति की धारा को पश्चातवर्ती आचार्यो ने निरन्तर आगे बढाया। आज हमे परम प्रसन्नता है कि समता विभूति विद्वद् शिरोमणि, जिन शासन प्रद्योतक, धर्मपाल प्रतिबोधक आचार्यश्री नानेश के सान्निध्य मे साधुमार्ग की वह धारा विकसित रूप मे उभर कर आ रही है। सघ के एकमात्र अनुशास्ता आचार्य श्री नानेश के सान्निध्य मे हुई एक साथ २५ दीक्षाओ ने सैकडो वर्षो के अतीत के इतिहास को प्रत्यक्ष कर दिखाया है। ऐसी एक नही अनेक क्रान्तिया आचार्य-प्रवर के सान्निध्य मे घटित हो रही है। सयम पालन के साथ हर साधु-साध्वी वर्ग ने आचार्य-प्रवर के सान्निघ्य को पाकर सम्यक्ज्ञान की दिशा मे भी आश्चर्यजनक विकास किया है।

अन्तर्दर्शन नामक प्रस्तुत पुस्तक मे आचार्यश्री नानेश के गगाशहर-भीनासर चातुर्मास के २५ प्रवचनो का सकलन किया गया है।

हमारा सघ सत्साहित्य एव जीवन विकासोन्मुखी कृतियो के प्रकाशन के लिए कृत सकल्प है।

इस सुअवसर पर हम यह भी स्पष्ट कर दे कि इन प्रवचनो के प्रकाशन मुद्रण, या किसी अन्य प्रबन्ध मे परम पूज्य आचार्य श्री जी म सा का कोई सम्बन्ध नही है। अत इस सकलन मे कोई भी शब्द या वाक्य सक्षेप मे आ गया हो अथवा मूल भाव से कही अन्तर दिखाई दे तो इसके लिए हम ही उत्तरदायी है। गुरुदेव का कार्य तो प्रवचन देना मात्र है। उनके प्रकाशन, मुद्रण एव प्रसार की समस्त व्यवस्था हमारी है, जिसकी भूलो को स्वीकार करना हम अपना कर्त्तव्य समझते हैं।

अनुक्रमणिका

आध्यात्मिक जीवन के आदर्श

अनुक्रमणिका

आध्यात्मिक जीवन के आदर्श

सुमति चरण रज आतम अर्पणा . . .

मनुष्य जीवन इस सृष्टि का विशिष्ट जीवन होता है । इसके तुल्य अन्य कोई जीवन विश्व मे नहीं है । धर्म की आराधना करने की दृष्टि से देवता का जीवन भी इसके समान सक्षम नही होता है । देव योनि से देवता मनुष्य लोक की तरफ ही बढते हैं । वहा से अधोगामी बनते हैं, उर्ध्वगामी नहीं । मानव जीवन ही एक ऐसा विशिष्ट जीवन है जो आत्मा के लिए उर्ध्वगामिता का प्रसग उपस्थित कर सकता है ।

इस विराट् विश्व मे इन्सान ने अनेक तरह के अनुसधान किये हैं और नये २ आविष्कार प्रस्तुत किये हैं । इन नये अनुसधानो और आविष्कारों को देख कर स्वय इन्सान ही चकित हो रहा है । कहा तो आदिमकाल का मानव था और कहां आज बीसवीं सदी का मानव है ? उस मानव और आज के मानव का तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि उस वक्त कितने पिछड़ेपन की स्थिति थी और आज उसने भौतिक विज्ञान के क्षेत्र में कितना अधिक विकास कर लिया है ?

आज के पूर्व मे कई विशिष्ट आत्माओ ने जो आध्यात्मिक जीवन के आदर्श उपस्थित किये हैं, उन आदर्शों को आज के पर्यूषण पर्व के प्रसग से चिन्तन मे लाने का सुवसर प्राप्त है । वे आध्यात्मिक आदर्श भी आज जन-मानस के सामने हैं, जो अनुकरणीय हैं ।

सच्ची तृप्ति :

पर्यूषण पर्व की बहुत दिनो से प्रतीक्षा की जा रही थी कि कब पर्यूषण पर्व आवे और कब अपने जीवन की आन्तरिक शुद्धि करें ? जीवन में जब आत्मा का परम स्वरूप अभिव्यक्त होता है तभी परमानन्द का रसास्वादन

वर्तमान जीवन :

आध्यात्मिक जीवन की शक्तियां तब कुंठित होती हैं, जब व्यक्ति भौतिक शक्तियो के भूले मे बेभान होकर भूलने लगता है । इसी वृत्ति का परिणाम है कि आज का वातावरण विक्षुब्ध और अशान्त प्रतीत होता है और ऐसा लगता है जैसे चारो ओर से त्राहिमाम्; त्राहिमाम् की पुकार गूंज रही हो । इस का शमन करने के लिये तथा आध्यात्मिक शक्तियो को प्रबल बनाने के लिये साधना का यह सुन्दर प्रसग उपस्थित हुआ है ।

(अभी ज्ञानमुनि जी ने रूपक के प्रसंग से तीन व्यक्तियो की बात कही कि वे पाप की स्थिति से चिन्तित हो अपने आपके जीवन को शुद्ध बनाने की सोच नही पा रहे थे लेकिन उनके बीच मे भी जैसा रास्ता निकला, वैसा ही रास्ता आज भी निकल सकता है ।) आज का मानव जब अपने अन्त करण को देखता है, अपनी आन्तरिकता का अनावृत्त रूप से अवलोकन करता है तो उसे उस स्वरूप पर बडी खिन्नता होती है । तब उसके मन मे चिन्तन उठता है कि उसका जीवन कितना कालिमामय है ? ऊपर की पोषाक तो साफ सुथरी है लेकिन अन्तर्पट को देखे तो वहा कुविचार और कुकृत्य अपना आसन जमाये बैठे हैं । तब वह कुकृत्यो को मिटाने का और सुकृत्यों के समीप जाने का संकल्प करता है । ऐसे जीवन के निर्माण की भावना तब सहज रूप मे उस भव्य के मस्तिष्क मे उद्‌भूत होती है, जिसके परिणाम स्वरूप वह अपने अन्दर खोज करने की कोशिश करता है । उपदेश श्रवण करने की दृष्टि से वह उपदेश सुनाता है और सोचता है कि आदर्श जीवन और उसके वर्तमान जीवन के बीच मे कितनी खाई पडी हुई है ? वह उस खाई को पाटने में क्रियाशील बनना चाहता है। वह क्रियाशीलता तभी सजीव बनती है जब महान् आध्यात्मिक पुरुषो के जीवन–आदर्श उसके समक्ष आते हैं और वह उनसे प्रेरणा लेता है।

इस सक्रियता के समय इस सतर्कता की जरूरत रहती है कि अपनी आध्यात्मिक शक्तिया कुंठित नहीं हो जावें, क्योकि स्वरूप तुलना की दृष्टि से कभी २ मानव हतोत्साहित भी हो जाता है कि वह अपने इतने मलिन स्वरूप के साथ आध्यात्मिक परमोज्ज्वलता को कैसे प्राप्त कर सकेगा ? ऐसा हतोत्साह अगर बल पकड लेता है तो उसकी प्राप्त आध्यात्मिक शक्तिया भी कुंठित हो जाती हैं और उसके जीवन का उद्धार कठिन बन जाता है । प्रारंभिक प्रयत्नो मे भी ऐसी कुंठा पैदा हो जाने का खतरा रहता है क्योकि मानव जब अपनी अशुभ वृत्तियो और प्रवृत्तियो को शुभकारी मोड देना चाहता है तो बार-बार उसे असफलता मिलती है । वह रात दिन उलझता है और इस उलझन

में उसका उत्साह शिथिल पड जाता है। इसलिये इन आध्यात्मिक शक्तियों को कुंठित होने से रोकना चाहिये और उत्साह और साहस का वातावरण बनाये रखना चाहिये। उसी वातावरण के निर्माण के लिये यह अष्ट-दिवसीय पर्व बहुत अनुकूल है।

आप हतोत्साहित न हों, तन्मयता से धर्म साधना में लगें और अपने आध्यात्मिक जीवन की प्रगति करते रहे। कुंठा उत्साह नही होने की दशा में ही पनपती है अत उत्साह को शिथिल न होने दें तथा उसको पुरुषार्थ में ढालते रहें तो आध्यात्मिक शक्तिया कुंठित होने से बची रहेगी, बल्कि वे प्रखर बन जायगी।

आवृत पर्दों को :

एक विकासशील व्यक्ति को सदा अपने जीवन को तथा आत्म-स्वरूप को देखते रहना चाहिये। इन्हे वह किस प्रकार देखे? पर्दे की ओट से देखे या पर्दे को हटा करके देखे? इस आत्म-स्वरूप पर जितनी परतें हैं, जितने पर्दे हैं, उन पर्दों के पीछे जो कुछ है, उसको देखना है। इस कारण उन पर्दों को पहले उठायेंगे और हटायेंगे तभी अन्दर के जीवन को देख सकेंगे। जीवन को आदर्श सम्पन्न बनाने के लिये उसको अन्दर से ही देखना, टटोलना और सुधारना होगा।

कल्पना करें कि अनेक वस्त्रो से आच्छादित एक चिन्तामणि रत्न पडा हुआ है, उसको कोई व्यक्ति कैसे देख सकेगा? जब वह उस रत्न पर ढके हुए कपडो को हटायगा। वे कपडे एक के बाद दूसरे के रूप मे हटते जायेंगे तब प्रकाशमान रत्न दृष्टि मे आयगा। इन कपडो को हटाना तो सहज है, लेकिन आत्म-स्वरूप पर पडे हुए पर्दों को हटाना बहुत कठिन है। हां, असम्भव नही है। आध्यात्मिक जीवन के आदर्श व्यवहारिक रूप से भी परिपुष्ट बन जाय तो आत्मा यह कठिन कार्य सम्पन्न करने मे पूर्ण सफलता प्राप्त कर सकती है।

पर्यूषण पर्व का इतना अधिक आभ्यन्तर महत्त्व माना गया है कि यह आठ दिनो की धर्माराधना एक दृष्टि से बारह महीनो के लिये पर्याप्त हो सकती है। एक पुरुष कदाचित् अपने व्यवसाय मे लगा रहे और एक माह तक अपने वस्त्रो को नही धोवे तो उसके वस्त्र कितने मैले हो जायेंगे? और उन वस्त्रो को वह धोने की कोशिश करे तो वह उन्हें कितने समय में धो सकेगा? एक महीने के मैले कपडो को वह एक या दो घण्टो में धोलेगा। जब कपडे

धोने की पक्की इच्छा हो जाती है तो वह एक महीने की धुलाई दो घण्टों में कर लेता है। एक छात्र भी साल भर पूरी पढाई नही करता लेकिन परीक्षा के समय एक दो माह पढाई करके उत्तीर्ण हो सकता है। उसी प्रकार बारह माह के पापों को धोने मे और आध्यात्मिक जीवन की एक परीक्षा उत्तीर्ण करने मे कितने समय की आवश्यकता होगी? यह कार्य चौबीस घण्टो मे किया जा सकता है और उसके लिये सवत्सरी महापर्व का आयोजन किया जाता है लेकिन उस महान् कार्य की तैयारी के लिये पहले सात दिन और रखे गये हैं। इस समय मे शुद्धिकरण की सारी सामग्री जुटा लेनी चाहिये तथा मानसिक तैयारी पूरी कर देनी चाहिये। जैसे महीने भर के मैले वस्त्रो को धोने के लिये साबुन, सोडा, पानी आदि की जरूरत पड़ती है, वैसे ही इस आत्म-स्वरूप के कीट (मैल) को धोने के लिये सात दिन की तैयारी का प्रसग है—जीवन को अदर से देखने का प्रसग है। ये सात दिन बहुत हैं—सात दिनो मे जीवन मे बहुत बड़ा परिवर्तन आ सकता है। शरीर विज्ञान की दृष्टि से यदि कोई व्यक्ति आज किसी औषधि का सेवन करता है तो सातवें दिन वह अपना प्रभाव अवश्य दिखा देती है। शरीर मे रस का परिवर्तन सात-सात दिनो मे होता रहता है क्योंकि उसमे भी बड़े रूप मे सात तत्व माने गये हैं। आयुर्वेद मे इसका उल्लेख आता है।

प्रकट हो सकती है।

दर्पण तो जड होता है, लेकिन एक तो देखने वाला अपनी आकृति को धुधले दर्पण मे देखे और एक वही आकृति स्वच्छ किये हुए दर्पण मे देखी जाय तो देखने वाले को आनन्द आवेगा कि उसकी आकृति कितनी स्पष्ट दिखाई दे रही है ? वैसे ही आत्मा भी जब निरावरण हो जाती, तब उसका प्रकाशमान रूप निखर उठता है। जब अपना रूप निखरता है तो प्रसन्नता होना स्वाभाविक ही है। इस स्वरूप प्रकटीकरण से आत्मा का रजन होता है। यह आत्म-रजन की अवस्था स्थायी भी रखी जा सकती है यदि उसके स्वरूप पर चढे पर्दे हटा दिये जाय तथा नये पर्दे नहीं चढने दिये जांय।

आत्मा का यह रजन-कार्य इस महापर्व के अवसर पर पूर्ण निष्ठा से सम्पन्न किया जा सकता है। इसकी वजह से इस पर्व मे अपूर्व आनन्द का अनुभव भी किया जा सकता है। इस कविता की पक्तिया दोहराना मैं उप-युक्त समझता हू—

यह पर्व पर्यूपण आया, दुनिया में आनन्द छाया रे।
करे कोई वेला और तेला, कोई देवे कर्मों का ढेला रे॥
क्रोधादिक दोष मिटावा, निज आतम-शुद्धि करावा रे।
यह पर्व पर्यूषण आया, दुनिया मे आनन्द छाया रे।

क्या यह पर्व पर्यूपण सन्तो के लिये ही आया है या भाई-बहिनों और श्रोताओ के लिये भी आया है ? आपको ज्ञात है कि आप जब विवाह शादी के प्रसग पर उमगित होते है तो बहिनें गीत सुनाती हैं। गीत गाना यह हर्ष की अभिव्यक्ति का साधन है। सामूहिक वाणी के उच्चारण से वायुमडल मे एक परिवर्तन सा आता है। हर्ष हृदय मे आता है - आनन्द से मन ओत-प्रोत बनता है तो वह बाहर मे भी अभिव्यक्त होता है। मैं इस आनन्द को आपके इस त्रिवेणी (गगाशहर, भीनासर व बीकानेर) सगम के साथ जोड देता हू—

यह पर्व पर्यूपण आया, त्रिवेणी मे आनन्द छाया जी.

देखिये इस त्रिवेणी के अन्दर जीवन की पवित्रता प्राप्त करने के लिये भाई और बहिनें दूर २ से आये हुए हैं। ये सब किसलिये उपस्थित हुए हैं ? यहा सन्तो के समागम मे पर्व की आराधना करने के लिये आये हुए हैं और यह आराधना क्या है ? इस आराधना का उद्देश्य है आत्मा का रजन। और आत्म-रजन तभी होगा जब आत्मा के निज स्वरूप के ऊपर आये हुए पर्दों का आव-

रखा हुआ दिया जायगा।

अंतगढ़ सूत्र ही :

अन्तगढ सूत्र वही है। समुद्र वही है लेकिन जो गहरी डुबकी लगाता है, वह रत्न खोज कर ले आता है। इसमे यह नही है कि एक बार डुबकी लगाली तो समुद्र की खोज पूरी हो गई। यह डुबकी लगाने वाले के अध्यवसाय की बात है कि जितनी बार और जितनी गहरी डुबकी वह लगायगा, उतने ही नये २ और मूल्यवान् रत्न वह प्राप्त कर सकेगा। समुद्र का खजाना कभी खाली नही होता। उसी तरह आप यह न समझें कि प्रति वर्ष यह अन्तगढ सूत्र ही बार २ क्यो सुनाया जाता है ? इसमे वर्णित महान् विभूतियो के जीवन पर तथा उनके आदर्शों पर वस्तुत बार २ चिन्तन करने की आवश्यकता होती है क्योकि जितनी बार और जितनी गहराई से इन आध्यात्मिक आदर्शों का श्रवण एवं चिन्तन किया जायगा तो उनमे से नये-२ विचार रत्न प्रस्फुटित होगे। इस सूत्र मे कितने आध्यात्मिक जीवनो के उत्कृष्ट रत्नो का उभार किस २ रूप मे आया है और क्यो आया है—इसका ज्ञान आपको सुनने से ही होगा। सुनकर आध्यात्मिक तत्त्वो को समझें तथा उन्हे अपने जीवन मे ग्रहण करने की तत्परता बतावें। यदि यह कार्य आप उच्छल भाव से करें तो बारह मास की आत्म-शुद्धि का प्रसग केवल पर्यूषण पर्व मे ही सम्पन्न कर सकते हैं।

आत्म-स्वरूप पर छाये हुए आवरणो को दूर करना है तथा आध्यात्मिकता के आदर्शों को प्राप्त करना है तो साधना मे कुछ गहरी डुबकी लगाने का भी आपको संकल्प बनाना चाहिए। आप सम्पूर्ण निवृत्ति ले सके तो अत्युत्तम है लेकिन इन आठ दिनो की स्थिति के प्रसग से तो निवृत्ति की पूर्ण अपेक्षा है। यह अपेक्षा पूरी हो इसके लिये आत्म-ज्ञान पर आये हुए आवरण को पहले दूर कर देना जरूरी है। इस आवरण को मैंने उपाधि की सज्ञा दी है। जितने अशो मे आप इन उपाधियों से छुटकारा पा लेंगे, उसी रूप मे आप आध्यात्मिक जीवन के आनन्द के समीप पहुच सकेंगे। इन उपाधियो मे से एक उपाधि ससार सम्बन्धी व्यवहार की भी है। व्यापार तथा आजीविका सम्बन्धी जितने कार्य हैं, वे भी ससार की दृष्टि से जरूरी होते हैं, लेकिन इन काय को भी आठ रोज के लिये विश्राम दिया जा सकता है। ऐसी निवृत्ति बडे भी लें और बच्चो को भी दिलावें। बच्चो के मन पर सही सस्कार जमाने के लिये उनको भी आठ दिन तक यथायोग्य साधना मे लगाना उनके भावी जीवन के लिए हितावह होगा। इस रूप में इस पर्व की आराधना पूर्ण निवृत्ति भाव से सारे

परिवार के साथ करने का कार्यक्रम शुरू कर दें।

जब तक इन्सान सांसारिक विषयो मे मशगूल रहता है, तब तक जीवन में गहरी आध्यामिकता ही नहीं जागती है और उसके बिना आदर्शों की क्रियान्विति कैसे हो तथा कैसे परमानन्द की अनुभूति आवे ? आध्यात्मिक आदर्शों के रत्न आसानी से नही मिला करते हैं, उनके लिये आत्म-साधना में गहरी से गहरी पैठ होनी चाहिये। गहरी डुबकी के बिना सारपूर्ण वस्तु कहा मिलती है ?

उपाधियों से :

इस अल्प समय की निवृत्ति से दो तरह के लाभ होगे। एक तो पूर्ण निवृत्ति कैसी होती है, उसमें आत्मा की सलग्नता किस प्रकार सुखदाई बनती है तथा स्वरूप दर्शन की स्थिति किस रूप में समीप आती है—इसका प्राथमिक अनुभव प्राप्त होगा और इस अनुभव में भी जो आन्तरिक आनन्द मिलेगा, उससे पूर्ण निवृत्ति की अवस्था को अवश्य ही प्रेरणा प्राप्त होगी। दूसरा तात्कालिक लाभ यह है कि साधना मे एकाग्रता की अवस्था विकसित हो सकेगी। क्योकि निवृत्ति नही है तो मन अस्थिर बना रहता है। आने को व्याख्यान मे आ गये, बैठ भी गये, लेकिन मन मे सकल्प—विकल्प आते रहते हैं कि जल्दी जाना है, दुकान खोलनी है या अमुक २ कार्य करने हैं। यह उपाधि—धर्मस्थान में भी साथ में लगी रहती है और जब तक उपाधि लगी रहती है, आध्यात्मिक जीवन की साधना अधूरी ही रह जाती है। इसलिए आठ दिन के लिये उपाधियों व विकारो से छुटकारा पाने के लिये निवृत्ति अवस्था स्वीकार कर लें अथवा दूसरे शब्दो में यह कहू कि दो करण तीन योग से दया, पौषध, उप—वास आदि के साथ आप आठ दिन तक आध्यात्मिक जीवन की कला सीखने का प्रयत्न करें।

अन्य दिनो मे जैसे शिविर के प्रसग बनाते हैं, वैसे ही समझिये कि यह आठ दिनो के साधना स्वाध्याय शिविर का प्रसग है। इस प्रसग से शास्त्रो का श्रवण मिलेगा तो ध्यान, मौन आदि की साधना एव ज्ञान चर्चा का अव—सर प्राप्त हो सकेगा। कदाचित् घरेलू परिस्थितियो के कारण पूर्ण निवृत्ति नही ले सकें तो आठ रोज के लिए यथासाध्य विकारों से छुटकारा जरूर लें। ब्रह्मचर्य व्रत का पालन, निरपराध प्राणी की हिंसा से निवृत्ति, झूठ नहीं बोलना, वचनो का दुरुपयोग नही करना, बिना आज्ञा वस्तु नही उठाना, रात्रि भोजन नही करना, क्रोध का शमन करना, यथा शक्ति तपश्चर्या करना आदि व्रत तो अवश्य ग्रहण करें ही। जैसे बेला, तेला, अठाई, मासखमण आदि अनशन तप

करते हैं, वैसे ही क्रोध शमन की, मान-दमन की, माया निवारण की तथा लोभ सवरण आदि की अठ्ठाइया और नोरंगियां भी करिये । यह भाव-तप और भी ऊचा होता है और कठिन भी । इससे आत्म-शुद्धि विशेष रूप से होती है । इस प्रकार विकारो से छुटकारा पाना बहुत जरूरी है । विकार छूट जाते हैं तो बहुत करके उपाधिया भी छूट जाती हैं । निर्विकारी अवस्था आध्यात्मिक जीवन की कला सीखने के लिये परम सहायिका हो जाती है । आध्यात्मिक जीवन की कला को जो सीख लेता है, वह आत्मज्ञान का चतुर कलाकार बन जाता है ।

निर्विकारी भावना ·

अन्तगढ़ सूत्र मे जिन महापुरुषो के जीवन के बारे मे आप सुन चुके हैं, उनके जीवनो के किन २ रहस्यो का मैं उद्घाटन करूं ? उनका एक २ आदर्श जीवन को प्रभावित करने वाला है । उन महापुरुषों को कितनी वैभवशाली अवस्था मिली, उस वैभव का भी उन्होंने खुशी २ त्याग कर दिया । यही त्याग नही—कनक के साथ कान्ता का भी उन्होने त्याग किया । आप जानते हैं कि कनक और कान्ता दोनो के दृश्य बड़े लुभावने होते हैं । कनक और कान्ता को लोहे की बेडी से भी ज्यादा दुश्वार माना है । यौवन अवस्था में उनका परित्याग करके साधना मे लग जाना सामान्य आदर्श नही है—यह अनुपम आदर्श होता है ।

इन महापुरुषो ने श्रेष्ठता के साथ मुनि धर्म का पालन किया तथा समभाव से अपने ऊपर आए सकटो को सहा । साधु के लिये भिक्षाचरी का विधान क्यो किया गया ? इसीलिये कि वे जीने के लिये खावें—खाने के लिये नही जिए । इससे साधना मे अवरोध पैदा नही होता है । उपनिषद् मे एक वाक्य आया है कि संसार मे अधिकांशत. सोने से सत्य का मुह ढक दिया जाता है क्योंकि सत्य असत्य होता है । साधु इस रूप मे सत्य से परे न हटे—इसके लिये भिक्षावृत्ति बड़ी सहायक रहती है । इसमे भी आहार के जो दोष बताए हैं, उनको टालकर जब साधु भिक्षा लाता है तो उसके किसी भी बाहरी शक्ति से किसी भी रूप मे दबने का प्रसग पैदा नहीं होता है । वह स्वतंन्त्र रहता है तो स्वतन्त्रचेता बनता है और स्वतन्त्र उपदेशक होता है । ऐसा स्वतन्त्रचेता साधक निर्विकारी भाव से अपनी साधना मे लगा रहता है और आन्तरिक जीवन के नानाविध रहस्यों का उद्घाटन करता रहता है ।

जिस इन्सान ने बारह माह मे कपड़े नही धोए, जिस इन्सान ने बारह माह मे कभी आत्म-शुद्धि नही की तो फिर वह इन्सान इन्सानियत के लायक ही कहा रहता है ? आत्म-शुद्धि की दृष्टि से शास्त्रकारों ने सन्त जीवन के लिये

तो यहां तक संकेत दिया है कि कदाचित् तुम्हारा किंचित मात्र भी किसी से मनमुटाव हो जाय तो तुम्हारे मुह की अभी कठ में नही उतरे उससे पहले ही उस विकार का शमन करलो । कभी हठीला मन तैयार नही हो तो तुरन्त क्षमायाचना करलो — नहीं तो प्रतिक्रमण के समय तो अवश्य करलो । अभि-प्राय यह है कि आत्म-शुद्धि के कार्य में तनिक भी विलम्ब नही होना चाहिये। क्योकि जरा सी असावधानी भारी मैल को जमा कर सकती है जिसको बाद मे धोना अधिक दुष्कर हो जाता है । आत्म-शुद्धि की साधना को आध्या-त्मिक जीवन का आदर्श मानकर चलना चाहिये ।

जीवन की मूल समस्या ही यह है कि आत्म-शुद्धि हो तथा वह बनी रहे । आत्मभावो मे विशुद्धता रहती है तो लौकिक जीवन भी नैतिक और सदाशयपूर्ण बनता है तथा आध्यात्मिक जीवन के आदर्श तो अलौकिक रूप से निखर उठते हैं । आत्म-शुद्धि के प्रति सतर्क दृष्टि आवश्यक है ।

गगाशहर—भीनासर

१२-८-७७

अन्तरात्मा के स्वरूप की पहिचान

सुमति चरण रज आतम अर्पणा........

इस चैतन्य स्वरूप आत्मा की विचित्र कहानी इस ब्रह्मांड के अन्दर व्याप्त हो रही है। इस आत्मा की शक्तियो का जो कुछ भी प्रचार और प्रसार ब्रह्मांड के सभी क्षेत्रों मे विद्यमान है, वह किसी न किसी रूप मे अपना चमत्कार दिखा ही देता है। जहां कही भी विवेक का दीपक जगता हुआ दृष्टिगत होता है, वहा सोचना चाहिये कि यह आत्मा की शक्ति प्रस्फुटित हो रही है। जिस किसी भी स्थल पर कुछ भी चहल-पहल, हलन-चलन व्यवस्थित रूप से बनता है, वहा भले ही आत्मा के स्वरूप को पहिचानने वाला हो या न हो, लेकिन आत्मा की सुगन्ध वहा छिप नहीं सकती है। इत्र का फोहा भले ही जाजम के पट के नीचे रख दिया जाय, लेकिन इसकी सुगन्ध जाजम की ऊपर की सतह पर आ ही जायगी। साधारण व्यक्ति तो ऊपर से ही इस पट को सूंघने का यत्न करेगा और सोचेगा कि यह जाजम सुगन्धित है—इस कपडे में इत्र है। वह यह नहीं सोच पाएगा कि यहां इस जाजम के नीचे कही पर इत्र का फूहा पडा हुआ है, जिसकी सुगन्ध यहा आ रही है।

इसी प्रकार सामान्य जन इस ऊपर के शरीर को देखता है तथा इसी शरीर को जीवन का मूलाधार समझ लेता है। वह यह नही सोचता कि शरीर ही सभी प्रकार से शक्तिमान है अथवा कोई अन्य शक्ति शरीर के अन्दर से शरीर को संचालित करती है। यह तो विवेकवान पुरुष ही कुछ गहरा उतरना चाहता है और वह खोज करता है कि यह सुगन्ध जाजम में नही है, कहीं न कही इत्र का फूहा पडा हुआ है। तब वह उस फूहे की खोज करता है और जान लेता है कि सुगन्ध का केन्द्र कहा रहा हुआ है? वह जड़ चेतन तत्त्वो को समझता है—उनके भिन्न २ स्वभावो को जानता है औ अन्तरात्मा के स्वरूप की पहिचान करता है और अनुभूति लेता है

का आधार शरीर नहीं, बल्कि शरीर के भीतर रहने वाली एवं शरीर को चलाने की शक्ति रखने वाली आत्मा है। इस अनुभूति के बाद ही वह बाहर से भीतर प्रवेश करने का प्रयत्न करता है। अन्तरात्मा के स्वरूप की पहिचान इस दृष्टि से एक विकासशील व्यक्ति के लिये प्राथमिक आवश्यकता होती है।

कस्तूरी-मृग की चेतना : अन्तरात्मा की खोज :

किसी चट्टान के ऊपर कस्तूरी की सुगन्ध को महसूस करके कोई व्यक्ति अपने भद्रिक स्वभाव की वजह से यह चिन्तन करता है कि कस्तूरी की सुगन्ध इस चट्टान में से आ रही है। यह पत्थर कस्तूरी का पत्थर है। लेकिन ज्ञानीजन इस बात को मानने के लिये तैयार नहीं होते हैं। उनका कथन तो यही रहता है कि यह पत्थर की सुगन्ध नहीं है और न ही पत्थर में कस्तूरी की सुगन्ध है। अवश्य ही इस पत्थर के साथ कस्तूरी का पुट लग गया है, जिससे सुगन्ध बाहर फूट रही है। हकीकत मे यह सुगन्ध पत्थर की देन नहीं है। यह देन तो कस्तूरी मृग की नाभि की है। वह कभी इस चट्टान पर बैठा होगा और उसकी नाभि से चट्टान का सम्पर्क हुआ होगा, जिसके परिणाम स्व-रूप चट्टान से भी कस्तूरी की सुगन्ध आने लग गई है।

इसे कस्तूरी मृग की चेतना कह सकते हैं। यह विस्मृत मन की चेतना होती है। कस्तूरी मृग की नाभि में होती है और वही से उसकी सुगंध मृग के नथुनों में प्रवेश करती है, लेकिन मृग की अन्तर्चेतना विस्मृत बनी हुई होती है अत नथुने नाभि की स्थिति को नहीं जान पाते हैं। कस्तूरी उसके पास होती है, मगर वह कस्तूरी के लिये चारों ओर भटक-भटक कर अपने प्राण दे देता है। वह अपनी सारी जिन्दगी को खपा देता है, लेकिन अपने ही शरीर के भीतर रहे हुए कस्तूरी के तत्त्व को जान नहीं पाता है। क्या ऐसी कस्तूरी मृग की विस्मृत चेतना आज के अधिकांश मानवो में नहीं बस रही है, जो मानव जीवन के कीर्तिमानों को देखता है—महान् पुरुषो के दिव्य जीवन से प्रभावित होता है किन्तु अपने ही भीतर रही हुई अन्तरात्मा को नहीं पहिचान पाता है ?

एक दृष्टि से विचार करें तो वैसा ही प्रसग बहिरात्मा के बारे में भी उपस्थित होता है। वह आत्मा जो इस शरीर में रहकर कस्तूरी मृग की तरह बाहर ही बाहर भटकती है, किन्तु स्वयं ही स्वय के स्वरूप को नही पहि-चान पाती है। प्रत्येक आत्मा सुख चाहती है और शान्ति चाहती है। सच्चा सुख और शान्ति तभी मिले जब नाभि की कस्तूरी का पता लग जाय। जब

तक आत्मा को इतना भी पता नही होता है तो वह अपने सुख और अपनी शान्ति की खोज बाहर के संसार मे याने कि जड तत्वों में करती है और उन्ही तत्वो को प्राप्त करने के लिये अपने सम्पूर्ण जीवन को खपा देती है। ऐसी आत्मा बहिरात्मा होती है। इसी वहिरात्मा को जब सन्त समागम से अथवा ज्ञानार्जन से कुछ भी पता लग जाता है कि सुगन्ध मेरी ही नाभि में है तो वह आत्मा फिर सच्ची निष्ठा से अपने स्वरूप की खोज करना चाहती है। तब उसकी बहिर्मुखी दृष्टि भीतर मे मुडती है। वह भीतर प्रवेश करती है और भीतर ही भीतर खोज करती है। यही अन्तरात्मा की खोज होती है। यह खोज जितनी गहरी और जितनी श्रद्धासम्पन्न बनती है, उतना ही बहिरात्मा का स्वरूप अन्तरात्मा के रूप मे ढलता है।

इसी शरीर में रहते हुए आत्मा के तीन रूप बन सकते हैं :

बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा—ये तीनो आत्मा के स्वरूप मानव जीवन के इसी शरीर मे प्रकट हो सकते हैं। मनुष्य के कार्यकलापो की जहा कही भी आप व्यवस्थित रूपरेखा देखते हैं—उसे अन्तरात्मा की सुगन्ध ही मानिये। यह दूसरी बात है कि वह स्वय अन्तरात्मा को नही पहिचानता। जैसे एक न्यायाधीश है। वह नास्तिक है, आस्तिक नहीं है। वह भौतिकवादी है, अध्यात्मवादी भी नही है, लेकिन जब वह अपने स्थान पर बैठकर किसी विवाद का निर्णय करता है तो 'दूध का दूध और पानी का पानी' की तरह शुद्ध न्याय कर देता है। साधारण लोग अथवा जिनकी दृष्टि अन्तरात्मा तक नही गई है, वे पुरुष इस भौतिक पिण्ड मे ही इस व्यवस्थित न्याय की निर्णय शक्ति को देखने की कोशिश करते हैं। स्वय न्यायाधीश का भी ऐसा दृष्टि-कोण हो सकता है और यह भी हो सकता है कि उसको भी अपनी अन्तरा-त्मा की पहिचान नहीं हो।

किन्तु ऐसा दृष्टिकोण बहिरात्माओ का ही हुआ करता है, क्योंकि उनका दृष्टिकोण गहरा नही होता है। अन्तरात्मा की विद्यमानता अन्तरात्मा ही जान सकती है और वही समझ सकती है कि न्यायाधीश की न्यायपूर्ण निर्णायक बुद्धि का जो प्रसग है, वह बुद्धि उस की अपनी ही सुगन्ध है। लेकिन बहिरा-त्माए इस सुगन्ध को भौतिक पिड—शरीर की सुगन्ध मान लेती हैं। यह वैसा ही मानना है जैसा कि पत्थर मे सुगन्ध का मानना। कस्तूरी मृग स्वयं भी उस पत्थर में ही सुगन्ध की कल्पना करता है और अपनी नाभि की स्थिति को नहीं पहिचानता है। उसी प्रकार भले ही न्यायाधीश ऊपर से कहता हो कि मैं आत्मवादी नही हू—आध्यात्मिक जीवन पर विश्वास नहीं करता हू, लेकिन

उसका निर्णय ही यह बतला रहा है कि यह बुद्धि और शक्ति उसकी अन्तश्चेतना की है—भौतिक पिंड की हो ही नही सकती । यह भौतिक पिंड तो करीब २ सबके समान ही होता है, फिर सब मे वैसी निर्णय शक्ति तो नही होती । ऐसी क्षमता अवश्य ही किसी विशिष्ट शक्ति की ही हो सकती है।

यहां पर ज्ञानीजन कहते हैं कि वह न्यायाधीश कस्तूरी मृग की तरह अपने आपकी सुगन्ध के स्रोत को पहिचान नही पा रहा है, इसीलिये कहता है कि मैं अध्यात्मवादी नही हू । जब कभी न्यायाधीश की आत्म-प्रतीति होगी तो वह समझ जायगा कि निर्णय की न्यायभरी यह शक्ति उसकी अपनी अन्तरात्मा की ही शक्ति है । यह भौतिक पिंड तो जाजम के पट के तुल्य है कि भीतरी अन्तरात्मा की सुगन्ध इसके माध्यम से बाहर प्रकट हो रही है । अन्तरात्मा सुगन्ध फैंक रही है और ऊपर के स्तर पर वह सुगन्ध महक रही है । सुगन्ध का ज्ञान तो होता है, किन्तु उसके स्रोत का ज्ञान नही हो रहा है और जब स्रोत का ज्ञान होगा तभी अन्तरात्मा के स्वरूप की पहिचान हो सकेगी ।

अन्तरात्मा के स्वरूप की पहिचान होगी, तब ही आत्मा के परम स्वरूप की भी पहिचान हो सकेगी । परम स्वरूप को पहिचान कर ही अन्तरात्मा उस स्वरूप को प्राप्त करने के लिये लालायित होती है । वह जब तदनुरूप साधना करती है तो उसके सफल बनने पर वह परमात्म-स्वरूप का भी वरण कर लेती है । इस तरह इसी शरीर मे आत्मा के तीनो रूप प्रकट होते हैं । एक दृष्टि से इन्हे आत्मा के विभिन्न रूप न कहे तो आत्मा की विकास श्रेणियां कह सकते हैं । बहिरात्मा इसी शरीरस्थ आत्मा की विकारपूर्ण अवस्था होती है । विकारो के कारण उसमे निज स्वरूप की सज्ञाहीनता सी होती है। जब बहिरात्मा इस सज्ञा को पकडती है तो अन्तरात्मा बनती है और अन्तरात्मा ही अपने विकास के सर्वोच्च स्तर पर पहुच कर स्वय ही परमात्मा बन जाती है । ये आत्म-स्वरूप की तीनो श्रेणिया आत्मा के इसी मानव शरीर मे रहते हुए प्रकट होती हैं तथा भाव धाराओ की उत्कृष्टता अथवा निकृष्टता के साथ यही आत्मा बहिर और अन्तर्स्वरूपो के बीच मे डोलती भी रहती है । जब अन्तर्चेतना अपने धरातल पर स्थायित्व ग्रहण कर लेती है तो फिर अन्तरात्मा ऊपर की ओर ही गमन करती है ।

बहिरात्मा और परमात्मा के बीच मे अन्तरात्मा का स्वरूप

जिन आत्माओ ने अन्तरात्मा के स्वरूप को नही पहिचाना है, फिर भी भौतिक विज्ञान की खोज मे एक ऐसा कांटा बनाया जा चुका है जिसकी

सहायता से इस भौतिक पिंड का सही स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। एक व्यापारी अपने हाथ में कांटा लेकर के अनाज तोलता है और देखता है कि बीच के अन्दर काटा ठीक है तो वह तोल को सही समझता है। पलडे चाहे ऊंचे-नीचे हो मगर यदि बीच का काटा सही स्थिति में है तो वह तोल सही समझा जाता है। लेकिन पलडे बराबर हो और बीच का कांटा एक तरफ झुका हुआ हो तो उस तोल को कैसा मानेंगे ? उससे सहज ही मे ज्ञान हो जाता है कि माल पूरा नही तुला है। इस कांटे का निर्माण करने की कला किसकी मानते हैं ? निश्चय ही यह कला अन्तरात्मा की है जिसका मूल स्वभाव समता का स्वभाव होता है। यह कला सिर्फ भौतिक तत्त्व की नही हो सकती है।

वैज्ञानिक अपने विज्ञान के क्षेत्र मे वायु के नाप का यन्त्र तैयार करते हैं और उस यन्त्र के माध्यम से गणित के द्वारा हवा का दबाव बता देते हैं कि अभी जिस गति से हवा चल रही है, आगामी चौबीस घन्टो के बाद उसकी वही गति रहने वाली है अथवा नही। अमुक स्थान पर कब और कैसे तूफान आने वाला है-यह वह यन्त्र के माध्यम से गणित करके बतला देता है। वहा पर भी गणित करने वाला और हवा का मापक यन्त्र बनाने वाला जो है, वह सिर्फ भौतिक पिंड ही नही है। यद्यपि वह जड तत्त्व का निर्माण कर सकता है, लेकिन यह निर्माण भी तभी हो सकता है जब स्वय भीतर के विज्ञान को मस्तिष्क में लाने वाली वह चैतन्य आत्मा अपना विज्ञान लगाती है। अपनी तटस्थ वृत्ति का परिचय वह आत्मा जैसे कांटे या यन्त्र के रूप मे देती है।

दूसरे शब्दो मे कहूं तो बहिरात्मा और परमात्मा के बीच का स्वरूप अन्तरात्मा का होता है। जब अपनी आन्तरिकता मे यह आत्मा स्थित और स्थिर होती है, तब ही बहिरात्मा के स्वरूप को सही तरीके से बाह्य रूप मे समझ सकती है। फिर तुलनात्मक दृष्टि से ही अपने स्वरूप की पहिचान कर सकती है तो परमात्म स्वरूप का विश्लेषण भी कर सकती है। अन्तरात्मा के रूप मे यह बीच का कांटा है जो इस जीवन की ज्ञान स्थिति की तरफ दृष्टिपात करता है और जीवन के वास्तविक स्वरूप की दिशा का प्रकटीकरण भी करता है। अन्तरात्मा के स्वरूप का ज्ञान सत्सग के प्रसग से, महात्माओ के सम्पर्क से अथवा वीतराग देवो के आगम शास्त्रो मे अकित अमोघ वचनों से एक भव्य प्राणी कर सकता है। जिन भव्यो ने वीतराग देव की उपासना की और तन्मयता के साथ अनन्य भाव से उनकी वाणी को हृदयगम की, उन आत्माओं ने वास्तविक आनन्द का आस्वादन किया। उस आस्वादन के आल्हाद औ· प्रमोद को वे ही आत्माए जानती हैं। ऐसे प्रसगों के बारे मे आप अन्तगढ़ सूत्र

मे सुन चुके है।

क्या यह कमी तो आप लोगों मे नही है कि शास्त्रों के प्रसंगों को सुन लें और सुन करके उसके भावो का अनुसधान नही करें ? शायद यह कमी हो तो समझ लें कि बिना अनुसधान के स्वरूप का साक्षात्कार नहीं होता है। जिन आत्माओं ने वीतरागवाणी के आधार पर अपनी अन्तरात्मा के स्वरूप को समझा तो उन्होने अपनी आन्तरिकता की पूर्ण रूप से अर्पणा कर दी और उस अर्पणा से वे स्वय भी वीतराग वन गई। जो सच्ची साधना के लिये अपने समग्र जीवन का समर्पण कर देती है, वही अन्तरात्मा की श्रेणी में आती है। साधना के प्रति समर्पण समस्त उपाधियो से छुटकारा दिलाता है और आराधना मे तटस्थ वृत्ति का निर्माण करता है। इसलिये जो साधना कर रहे हैं, उन सन्तो के समीप बैठकर गृहस्थ अवस्था मे रहने वाले भाई-वहिन अपने वर्तमान स्वरूप की समीक्षा कर सकते हैं। ऐसी समीक्षा से वे साधक के स्वरूप के प्रति भी श्रद्धावान वनते है तो स्वय भी अन्तरात्मा के स्वरूप मे स्थित और स्थिर होने की चेष्टा करते हैं। भले ही उनका स्वरूप वर्तमान समय मे गृहस्थी की पोषाक मे है—नर और नारी की जाति मे है, वे अन्तर्मुखी वन सकते है। भौतिक तत्त्वो का विज्ञान अथवा कलाओं का ज्ञान वाहर की विद्वत्ता की दृष्टि से ज्यादा न भी हो, लेकिन अन्तरात्मा का स्वरूप जिसके अन्तःकरण मे प्रतिभासित हो रहा हो, तो उस पुरुष का जीवन कुछ विलक्षण तरीके का ही दृष्टिगत होता है।

महारानी देवकी का विचार द्वन्द्व उनकी अन्तरात्मा का अन्तर्द्वन्द्व था :

महारानी देवकी वसुदेव महाराज की धर्मपत्नी तथा त्रिखडाधिपति वासुदेव श्रीकृष्ण महाराज की मातु श्री थी। इसका वर्णन अभी आपके सामने मुनि जी ने आगमवाणी से रखा। इस वर्णन में महारानी की व्यग्रता किस मे थी और किस विषय को लेकर वे चिन्तित वनी ? श्रोता लोग यह कह सकते हैं कि प्रसग उनके पुत्रो का था। छः पुत्र एक सरीखे रूप और लावण्य वाले, एक सरीखी वय के और दीखने मे मनोहर व कमनीय—ऐसे पुत्र किस भाग्यशालिनी जननी न जाये हैं—यह विचार देवकी रानी के मन मे आया और वह भी इसलिये कि उनकी अविवाहित अवस्था मे भविष्यवाणी की थी कि ऐसे पुण्यशाली पुत्र उसके होंगे। यह भविष्यवाणी भी किसी सामान्य व्यक्ति ने नहीं की थी वल्कि एक आत्म-साधक विशिष्ट पुरुष ने की थी। इसलिये महारानी देवकी की पुण्यशाली पुत्रो की माता वनने की धारणा वनी हुई थी। जब वे छः सुन्दर सन्त दो दो के विभाग मे भिक्षा हेतु वहा आये तो महारानी के

मस्तिष्क में प्रश्न पैदा होने का प्रसंग आया। उसने यह समझा कि वे ही दोनों युवक सन्त बार २ मोदकों की भिक्षा लेने आ रहे हैं। तीसरी बार जब तीसरा सिंघाडा आया तो महारानी ने पूछ ही लिया। उन्होंने स्पष्ट किया कि वे तो पहली बार ही भिक्षा हेतु आये हैं। लेकिन वे कुल छ. भाई हैं तथा दो दो के सिंघाडे मे बंटे हुए हैं।

इस स्पष्टीकरण के बाद महारानी के मन मे विचारो का द्वन्द्व चल पडा। उसको ज्ञात हुआ कि ये छ दिव्य पुरुष भाई हैं तो इनकी जननी मैं नही हू, कोई अन्य है—यह कैसे हुआ? उस भविष्यवाणी का क्या हुआ? मैं अपने को सौभाग्यशालिनी समझती थी, फिर वह सौभाग्य कहाँ रह गया? फिर भी न जाने क्यो उसका मन बार २ उन छः दिव्य मुनियो पर जा रहा था और उसको ऐसा अनुभव हो रहा था कि काश, वे उसके ही पुत्र होते। अपने विचार द्वन्द्व का समाधान पाने के लिये ही वह भगवान् अरिष्ठनेमि के पास पहुची।

इस विषय मे एक संशोधन लीजिये। इन छ दिव्य पुरुषो का प्रसग यद्यपि इस प्रकरण मे सामने आ रहा है, लेकिन देवकी महारानी के मस्तिष्क मे जो जिज्ञासा पैदा हुई, उसमें इन छ. पुरुषों के उसकी कुक्षि से जन्म न लेने की चिन्ता गौण थी। उसकी जिज्ञासा की मुख्य बात यह थी कि अतिमुक्त-कुमार जैसे साधक सन्त की भविष्यवाणी सत्य क्यो नही हुई? क्या वे अपनी वाणी से विचलित हो गये? उनके मुह की कही हुई बात गलत कैसे हो गई? कहा है—

जो भाखे वर कामिनी, जो भाखे अणगार।
जो भाखे बालक कथा, संशय नही लिगार।

इन तीनो—श्रेष्ठ नारी, सन्त-महात्मा और बालक की बात अन्त-रात्मा से सम्बन्ध रखती है। बालक का हृदय निष्पाप होता है और सन्त महात्मा अपने पापो को धो डालते हैं। दोनो के निश्छल हृदय से जो बात निकल जाती है, वह सत्य होती है, वैसे ही शीलवती नारी की बात को भी महत्त्व दिया गया है। यह अन्तरात्मा की बात इसलिये है कि तीनों पापों से दूर बहिरात्मा के रूप नही होते हैं या नही रहते हैं। तो महारानी के मन मे सबसे बढकर अणगार अतिमुक्तकुमार के वचनो का मूल्याकन हो रहा था।

देवकी महारानी को यह विज्ञान था कि मुनि जीवन पवित्र होना ही चाहिये और पवित्रात्मा की वाणी कभी स्खलित नही होती है क्योकि वह

किसी स्वार्थ से लिप्त नहीं होती। सन्त जीवन की पवित्रता संसार समुद्र में पतवार के तुल्य होती है। सत जीवन ससार का मार्ग दर्शक जीवन है। सन्त जीवन में विडम्बना पैदा हो—उसकी भर्त्सना की जाय या वह नीचे उतर जाय—यह भव्य प्राणियो के लिये खटकने वाली बात होती है। ससार का यह तरण-तारण जीवन गृहस्थाश्रम के स्तर पर उतर जावे तो समझना चाहिये कि पवित्र श्रमण सस्कृति का बहुत बडा ह्रास हो रहा है। क्या इस प्रकार का चिन्तन अन्तरात्मा के रूप में स्थिर होने का नही बनता है? क्या देवकी महारानी से भी बढ़कर आप अपने अन्त करण मे नहीं सोच पाते कि सन्त जीवन मे यदि लोक सम्बन्धी द्रव्यो की—धन, मान, कीर्ति आदि की आकांक्षा जग गई तो सांस्कृतिक गरिमा कितनी कलुषित हो जायगी? देवकी की अन्तरात्मा का अन्तर्द्वन्द्व यही था कि एक महान् सन्त की भविष्यवाणी सत्य सिद्ध क्यों नहीं हुई?

भगवान् अरिष्ठनेमि के पास पहुचकर देवकी ने अपनी शका का समाधान प्राप्त किया—मुख्य शका का कि मुनि जीवन की शुभता और पवित्रता सही थी और गौण शका का भी कि वे छ दिव्य पुरुष उसी के पुत्र थे। लेकिन देवकी ने एक मूल तथ्य को पकडा—एक सत्य की शोध की। यह उस की अन्तरात्मा की जागृति थी। मुनि जीवन के वचन की स्थिति से उसने मुनि जीवन की पवित्रता आंकी। उसका विचार-द्वन्द्व यह था कि जैसे एक बालक के जीवन में सरलता, स्वाभाविकता, नि स्वार्थता और निर्लिप्तता होती है, वैसे ही गुण एक मुनि जीवन में होने चाहिये, क्योंकि इन्हीं गुणो मे सत्य का निवास होता है। एक अन्तरात्मा मे सत्य के शोध की ही तडप होती है और वह सत्य की ही उपासना मे रत रहती है। इस देवकी महारानी के चरित्र से सत्य के प्रति उसकी सुदृढ़ता ही व्यक्त होती है।

अन्तरात्मा की प्रबलता से सत्य की आराधना

सत्य की आराधना सहज आराधना नही होती है। यह आराधना अन्तरात्मा की प्रबलता से बनती है। अन्तरात्मा के तुल्य वीतराग देव के शासन मे गुरु पद को माना गया है। गुरु बहिर्संसार को छोड चुके होते हैं और परमात्म-स्वरूप की साधना करते हैं तो तराजू के कांटे के समान वे दोनो स्वरूपो के बीच मे अन्तरात्मा के तुल्य खडे होते हैं। गुरु पद के भी एक ओर वीतराग देव का स्वरूप है तो एक ओर धर्म का स्वरूप होता है। गुरु पद की महत्ता इससे और बढ जाती है कि वे ही वीतराग देव के सही स्वरूप को दिखाने वाले तथा धर्म के सही स्वरूप को समझाने वाले होते हैं।

इसीलिये कहा गया है कि 'या महिमा गुरुदेव की जो गोविन्द दियो बताय' तथा 'गुरु बिन ज्ञान कहा ?' इस कारण सत्य की आराधना मे गुरु का मार्गदर्शन बहुत आवश्यक होता है क्योकि वह अन्तरात्मा का मार्गदर्शन होता है।

कभी-२ आध्यात्मिक जीवन का प्रतिपादन करने वाले वक्ता सहसा बोल जाते हैं कि यह रत्न क्या है, यह तो मिट्टी है। कथन गलत नहीं है लेकिन कथन वर्तमान पर्याय की दृष्टि से भी गलत नही दिखाई देना चाहिये। वह रत्न नष्ट होकर मिट्टी बन सकता है लेकिन वर्तमान मे तो वह रत्न है ही। इस रूप मे सत्य की आराधना करते हुए वस्तु स्वरूप की वर्तमान पर्याय को नजरन्दाज नही कर सकते हैं। और यह नयवाद की गहराई होती है कि एक वस्तु स्वरूप का वर्णन अलग-२ अपेक्षाओ से किया जाता है ताकि समग्र स्वरूप का ज्ञान हो सके। सत्य के लिये वर्तमान सामने होता है और भूत भविष्य आगे पीछे।

कभी कोई व्यक्ति यह भी कह देता है कि यह शरीर क्या है—यह तो जड है। ये भी आवेश के शब्द हैं जैसे शब्द थे कि यह रत्न क्या है—मिट्टी है। जड तो मुर्दा शरीर को कहते हैं और सन्त लोग उपदेश देते हैं तो क्या मुर्दा शरीरो को देते हैं? यदि शरीर को जड की स्थिति की उपमा देनी है तो सत्यवादिता के नाते यह कहना चाहिये कि भूतकाल की दृष्टि से जड तत्त्व पहले निर्जीव था, लेकिन वर्तमान मे वह आत्मा के सयोग से शरीर रूप बना तो चैतन्य आत्मा का रूप कहलाने लगा। जब चैतन्य आत्मा इसमे से निकल जायेगी तो फिर यह शरीर जड हो जायगा। इस अपेक्षा से कथन किया जाना चाहिये। एकागी कथन सत्य से दूर हो जाता है। शरीर को जड ही मानलें तो फिर आत्म-साधना भी किसको सहायता से की जायगी? कर्मों का क्षय करने की तपस्या कौन करेगा? शरीर का इसीलिये धम साधन कहा है। वाणी की भी बडी महिमा बताई गई है। साधक की वाणी जो निकले वह सत्य की साधिका होनी चाहिये।

बहुतेरे लोगो के मुंह से निकल जाता है कि सभी 'सत्य बोलो' 'अहिंसा रखो'—यह कहते तो हैं जो सिद्धांत के नाते ठीक है लेकिन वास्तविक सत्य क्या है—सही तथ्य क्या है? इसका विश्लेषण करने से ही सत्य के सही स्वरूप का ज्ञान हो सकेगा। इससे उनका यही भाव हो सकता है कि सत्य की व्यावहारिकता भी सिद्ध होनी चाहिये।

इसका अभिप्राय यह है कि सत्य अन्तरात्मा के साथ जुडकर ही सत्य

धनता है। जो सत्य की आराधना है, वही एक दृष्टि से अन्तरात्मा की आराधना है। जो लोग बहुतेरी बातें बेसिर पैर की करते हैं, वे उनकी अन्तरात्मा के ओझल रहने से करते हैं क्योंकि बहिरात्मा का ज्ञान अधिकांश में अज्ञान रूप होता है। जहाँ आवेश का प्रसंग आता है तो वहाँ दुर्नय का प्रसंग आता है और दुर्नयपूर्ण बात अन्तरात्मा की प्रतीति के अभाव में ही चलती है।

विचार, वाणी व व्यवहार मे अन्तरात्मा के साथ सत्य :

भगवान् महावीर का सिद्धान्त अनेकान्तवाद का है—स्याद्वाद की भाषा से बोलने का कथन है। इस स्याद्वाद का विज्ञान ठीक तरह से किये बगैर सत्य का सही प्रतिपादन बड़ा कठिन होता है। सत्य टेढ़ी खीर है। सत्य की आराधना वही कर सकता है जिसकी अन्तरात्मा जागृत बन चुकी हो। एक सत्य का आराधक सदैव अपने विचार, अपनी वाणी और अपने व्यवहार में सत्य का ही अनुशीलन करता है।

सभी तीर्थंकर देवो ने सत्य के सिद्धान्त का जिस सूक्ष्मता से प्रतिपादन किया है, उस पर प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को गभीर चिन्तन-मनन करने की आवश्यकता है। साधु के लिये भी 'वह भाषा कैसी बोले'—इसका स्पष्ट विधान किया गया है। साधु मुख्य रूप से आठ प्रकार की भाषा टाल कर बोले। कठोरकारी कर्कशकारी, मर्मकारी आदि भाषा के आठ दोष बताये गये हैं। निश्चयकारी भाषा बोलने का भी निषेध किया गया है। इस कारण एकान्त दृष्टि से शरीर को जड नही कह सकते हैं। शास्त्रकार कहते हैं कि शरीर भी एक दृष्टि से चैतन्य है—एकान्त रूप से नही। प्रश्न करने पर स्वयं महावीर ने बताया कि आत्मा अरूपी भी है तो रूपी भी है। रूपी आत्मा का कथन शरीर की दृष्टि से हुआ है। आठ कर्मों से युक्त जो आत्माएं शरीर धारण करती हैं, वे रूपी आत्माएं होती हैं। शरीर को आत्मा के अस्तित्व मे जड़ नहीं कहा। अन्तरात्मा के स्वरूप को खोजने का इसी मे संकेत रहा हुआ है।

विचार, वाणी व व्यवहार में सत्य अपनी भिन्न २ अपेक्षाओं से आंका जाता है। यह कथन करने का विवेक अन्तरात्मा मे ही होता है। स्याद्वाद का सिद्धान्त आत्म-जागृति की उच्चतम अवस्था की उपज है। इसलिये जो आत्मा कर्म बन्धन करती है, वही आत्मा कर्मों को तोड भी सकती है—बस पहले निज स्वरूप को समझ लें। मनुष्य के शरीर मे प्रकट होने वाली तीन तरह की जो आत्माएं बताई गई हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा। इनके स्वरूपो को समझने के लिये इस क्रम से चलें कि अन्तरात्मा में स्थिर होकर

बहिरात्मा के स्वरूप को समझें तथा उसी अवस्था में परमात्मा के स्वरूप का दर्शन करें। यह अन्तरात्मा एक दृष्टि से गुरुपद का कार्य करने मे समर्थ हो सकती है। शास्त्रकारों ने बडे रूप मे देव, गुरु एव धर्म का स्वरूप बताया है, लेकिन गुरु पद का काटा आडा टेढा हो जाता है तो उससे देव एव धर्म के स्वरूप पर भी आच आती है। इस कारण गुरु पद का विशिष्ट महत्त्व है तथा उसी दृष्टिकोण से अन्तरात्मा का भी विशिष्ट महत्त्व है। अन्तरात्मा जब सजग और सतर्क बन जाती है तो सारा जीवन सत्य एव अहिंसामय हो जाता है।

अन्तरात्मा की ज्योति को अपनी साधना से निखारिये :

पर्यूषण पर्व का दूसरा दिन चल रहा है—पाठशाला चल पडी है तो इसमें प्रशिक्षण भी लें और अन्तरात्मा को सम्पूर्ण जीवन की स्वामिनी बनाने वाली साधना भी करें। एक ही समय मे दो काम बने इस लाभ को बुद्धिमान व्यक्ति कभी नही छोडते हैं। व्याख्यान श्रवण हो ही रहा है तो इसके साथ दो सामायिकें भी हो सकती हैं। स्वाध्याय के कार्यक्रम मे भी सम्मिलित हुआ जा सकता है। भगवान् ने कहा है—'सज्झाएणं भते! जीवे किं जणेई? सज्झाएणं नाणावरणिज्ज कम्म खवेई'—अर्थात् स्वाध्याय करने से ज्ञानावरणीय कर्मों का क्षय होता है। जितनी बहुविध साधना आप करेंगे, उतनी ही अन्त-रात्मा की ज्योति निखरती हुई चली जायगी। उसका प्रकाश घना बनता जायगा।

तत्त्ववेत्ता कहते हैं कि सशयशील आत्मा पतित हो जाती है, अतः आपके मन मे किसी भी प्रकार का सशय उत्पन्न हो तो उसका समाधान लेलें और फिर चिन्तन तथा साधना मे अपने को एकाग्र बनालें ताकि अन्तरात्मा का स्वरूप स्वच्छ निकलने लगे, उज्ज्वल बने और परमात्म-स्वरूप की दिशा मे गमन करें। शकाओ का समाधान सत्य के निकट ले जाता है इसलिये मन को कभी भी शकाग्रस्त न रखें। अन्तरात्मा को सदा सत्य मे सलग्न बनाये हुए चलें ताकि उसके स्वरूप की पहिचान ही नही—उसके स्वरूप का साक्षा-त्कार भी हो जावे।

गगाशहर-भीनासर

१३-८-७७

सर्वश्रेष्ठ बल : आत्मबल

पद्म प्रभु जिन तुज मुज आंतरू रे.... .

भव्य जनों के अन्तःकरण में जब विवेकपूर्वक आत्म-विकास का दृढ़ संकल्प जागृत होता है तो वे अपने उस आत्म-बल पर अपने जीवन को द्रुतगति से आगे बढ़ा लेते हैं। आत्म-बल को आधार बना कर गति करने वाला व्यक्ति सामान्य जीवन से विशिष्ट जीवन में प्रवेश करता है। वह धीरे २ विशिष्ट जीवन से भी ऊपर उठकर आत्म-साक्षात्कार से परमात्म स्वरूप के वरण तक पहुंच जाता है। आत्मा और परमात्मा के बीच की खाई को भी वह पाट लेता है। ऐसा शुभ परिवर्तन आत्म तत्त्व में अटूट विश्वास रखने से तथा तदनुरूप गति करने से संभव है।

वीतराग वाणी के आधार पर ऐसे पुरुषों के मन मस्तिष्क में आत्म-ज्ञान की जिस दिव्यता का प्रादुर्भाव होता है, वही उसके मार्ग दर्शक का काम करता है। आत्म-ज्ञान के प्रकाश में साधक देख लेता है कि इस मानव जीवन के धरातल पर खड़ा होकर ही मानव ऊंचा से ऊंचा आत्म विकास सम्पादित कर सकता है। वह मानव जीवन की महत्ता को समझ लेता है, आत्मा के मूल स्वरूप को पहिचान जाता है एवं आत्म-बल की विशिष्टता को उपलब्ध कर लेता है। इस आत्म-बल को जिसने पा लिया, समझिये कि उसमें सम्पूर्ण विपत्तियों से सफल संघर्ष करने की सम्पूर्ण क्षमता उत्पन्न हो गई है। सैकड़ों तरह के बल एक तरफ हो और एक तरफ केवल आत्म-बल ही हो पर उन सबको परास्त कर देने के लिये पर्याप्त होता है। आत्म-बली वास्तविकता की दृष्टि से महाबली होता है।

कल्पवृक्ष से भी उत्तम मनोरथ पूरक मानव जीवन :

मानव ही अपने जीवन में इस कल्पना को साकार रूप दे सकता है

कि वह जो भी अपना इच्छित लक्ष्य निर्धारित करेगा, उसको पा ही लेगा। इस जीवन मे यदि प्रमाद का अवकाश नही हुआ, समय रहते जीवन की क्षमता का विकास कर लिया तथा सामर्थ्य के सद्भाव मे उत्तम कार्य को प्रारंभ कर दिया तो आत्म-बल का प्रवाह ऐसी दिशा मे मुड जायगा जिसके द्वारा भव्य जीवन का निर्माण किया जा सकता है। यही आत्म-बल सर्वोच्च विकास को प्राप्त करके श्रेष्ठ सत्य को एवं अखूट आनन्द को प्राप्त कर लेता है।

इस मानवीय जीवन को एक दृष्टि से ऐसी भूमि की उपमा दी जा सकती है, जिसकी मिट्टी में स्निग्धता हो, उत्पादकता हो तथा जल बिन्दुओ को अपने अन्दर समा लेने की क्षमता हो। ऐसी ही भूमि पर खेती करके किसान इच्छित फसल पैदा कर लेता है। ऐसी भूमि पर वह चाहता है तो गेहू की फसल, गन्ने की फसल या कोई भी अच्छी से अच्छी फसल ले सकता है। उसकी अपनी इच्छा पर फल प्राप्ति निर्भर रहती है। वह चाहे तो उसी भूमि से गन्ने की फसल लेकर मीठा रस प्राप्त कर सकता है और आल्हादित हो सकता है और वह चाहे तो उसी भूमि पर अफीम की फसल उगा कर अपने मुह को कडुआ बना सकता है तथा ससार मे विषवृद्धि कर सकता है। उपजाऊ भूमि की स्निग्ध मिट्टी मे कृषक इच्छानुसार फसल पैदा कर सकता है, जो कल्पवृक्ष से भी बढकर होती है। इसका कारण है कि कृषक अपने पुरुपार्थ से फसल लेता है जबकि एक कल्पवृक्ष से विना किसी पुरुपार्थ के फल मिलता है। पुरुपार्थ से प्राप्त किया हुआ फल श्रेष्ठतर होता है।

इस रूपक को इस मानव जीवन पर लागू करें। मानव जीवन की पृष्ठभूमि भी इतनी फलदाई होती है कि इस पर पुरुषार्थ करने वाला चाहिये। इस मानव जीवन की भूमि पर यदि आध्यात्मिक जल का सिचन मिल जाय, वीतरागवाणी के प्रति श्रद्धा का वीज वो दिया जाय तथा आत्मा का विवेक युक्त दृढ सकल्पमय पुरुपार्थ नियोजित हो जाय तो कल्पनातीत अवस्था की प्राप्ति के रूप मे अनुपम फल प्राप्त हो सकता है। कल्पवृक्ष या भूमि तो सीमित पदार्थों का ही उत्पादन करती है, लेकिन मानव जीवन के धरातल पर यह आत्मा असीम, अद्वितीय और अलौकिक प्रकाश, आनन्द एव शान्ति प्राप्त कर सकती है। इसलिये यह मानव जीवन कल्पवृक्ष से भी अधिक उत्तम है जिसमे सर्वोच्च मनोरथ को भी पूर्ण कर सकते हैं।

ऐसी सर्वश्रेष्ठ क्षमता इस मानव जीवन मे रही हुई है, जो अन्य किसी जीवन मे प्राप्त नहीं होती है। ऐसे अमूल्य जीवन का कहना ही क्या? आवश्यकता इसी बात की है कि इस जीवन का पूर्ण सदुपयोग किया जाय। यह

ध्यान रखना है कि उस जीवन का मोड़ गलत दिशा में न चला जाये, वरना अफीम की खेती हो जायगी तो स्वयं को भी विष पीना पड़ेगा और दुनिया में भी विष बढ़ेगा। सदुपयोग का परिणाम अनन्त सुख के रूप में प्रकट होगा तो दुरुपयोग से इतना दुःख बढ़ जायगा कि उससे कई जन्म-जन्मान्तरों तक छुटकारा नहीं मिल सकेगा। इस मानव जीवन को कल्पवृक्ष से भी उत्तम और मनोरथपूरक भी बनाया जा सकता है तो विषवृक्ष के समान कष्ट दायक एवं दुर्भाग्यपूर्ण भी बना सकते हैं। सुख और दुःख ये दोनों इसी आत्मा के अधीन हैं।

सुख और दुःख का कर्त्ता यह आत्म-तत्त्व ही है :

जीवन में सुख या दुःख देने वाली कोई अलग शक्ति नहीं होती है। यह आत्म तत्त्व स्वयं ही अपना भाग्य विधाता और अपने सुख-दुःख का कर्त्ता होता है। महावीर प्रभु ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट घोषणा की है कि—

अप्पा कत्ता विकत्ता य,
सुहाण य दुहाण य ।

यह आत्म तत्त्व ही अपने सुख या दुःख का कर्त्ता या विकर्त्ता है। सुख को यही पैदा करता है तो यही अपने सुख को नष्ट भी करता है। उसी प्रकार यही आत्म तत्त्व अपने दुःख को पैदा करता है तो अपने दुःख को दूर भी कर सकता है। यहाँ इस आप्त वचन में कार्यों को भी गौण किया गया है। वस्तुतः कर्म गौण ही हैं क्योंकि इन कार्यों को करने वाली भी आत्मा ही होती है। इस कर्म बन्धन के द्वारा ही वह निज स्वरूप एवं परमात्म स्वरूप से दूर जाती है और उसी कर्म बन्धन को तोड़ कर वह आत्मा तथा परमात्मा का साक्षात्कार कर लेती है।

कर्म बन्धन का मूल स्रोत होता है मिथ्यात्व तथा मोह। ये दोनों बहुत बड़े पाप हैं। मिथ्यात्व और मोह से संयुक्त बनने के कारण ही आठों कर्मों की उग्रता बनी रहती है। मिथ्यात्व मोह इन आठों कर्मों का अगुआ होता है। यही कर्मों की मूल जड़ है। यही कर्म विपाक की स्थिति का जनक है, जिसकी उपस्थिति में आत्मा अपने स्वरूप को विस्मृत कर जाती है और दिखाई देने वाले भौतिक तत्त्वों को ही सब कुछ मानकर चलती है। मिथ्यात्व मोह कर्म का जिस वक्त जोरदार विपाक या उदय होता है, उस वक्त इस आत्मा की दशा बेभान अवस्था में पहुँच जाती है। विवेक का दीपक बुझ जाता है और जब विवेक का ही प्रकाश नहीं रहता है तो जितनी ही सम्पत्ति प्राप्त हो—अधिकारों का जितना ही वैभव मिल जाय, लेकिन वे सभी प्राप्तियाँ उस

आत्मा को ज्यादा से ज्यादा अंधेरे में धकेलने वाली बन जाती है। मिथ्यात्व दशा अन्धकार मे ही बढ़ती है और ज्ञान तथा विवेक का प्रकाश किनारा कर जाता है।

जिस व्यक्ति का ध्यान सिर्फ भौतिक तत्त्वो की तरफ रहता है, वह उन्ही को कैसे भी प्रयत्नो के द्वारा अधिक से अधिक मात्रा मे एकत्रित करता है तथा आत्मा की अधकारपूर्ण अवस्था के कारण उनका भरपूर दुरुपयोग करने लग जाता है। यह सकल्प शक्ति दोनो तरफ काम करती है। यदि उसको विवेक के साथ जगाते हैं तो वह जीवन मे चारो ओर प्रकाश भर देती है और इसी सकल्प शक्ति के साथ अगर अविवेक जुड जाता है तो जीवन के सभी क्षेत्रो में घटाटोप अधकार छा जाता है और वह दुष्कृत्यो मे प्रवृत्त हो जाती है।

आपने अन्तगढ सूत्र के अन्दर उन छ गोठीले पुरुषो का वर्णन सुना। उनका भी मानव जीवन ही था और उनको उस जीवन मे तरुणाई, धन की प्रचुरता तथा अधिकारो की बहुलता भी प्राप्त थी। लेकिन इस संयोग का उन्होने क्या उपयोग किया? उन शक्तियो को लेकर वे भौतिक सुखो मे लिप्त बन गये। उनके इस शुद्ध अविवेक के कारण उनके जीवन मे दुष्कृत्यों का अधकार छा गया। वे भी आत्म तत्त्व के धारक थे और अपने जीवन का सदु-पयोग करते तो अपने लिये सुखो का संसार बना लेते लेकिन वे उस अमूल्य जीवन का दुरुपयोग करने पर तुल गये।

गोठीले पुरुषों की दुष्टता तथा अर्जुन माली का बल :

नीतिकारो का कथन है कि—

यौवनं धनसम्पत्ति प्रभुत्वमविवेकता ।
एकैकमप्यनर्थाय किं यत्र चतुष्टयम् ॥

यह सही है कि जवानी अपने आप मे दीवानी होती है। जब तक बच्चे का जीवन है तब तक उसकी पवित्रता की झलक हर किसी को आक-र्षित करती है। बच्चे का जीवन इसी कारण सबको प्रिय लगता है कि उसमे विविध विकारो का उदय नही होता है। लेकिन तरुणाई के आते ही विकारो का प्रवेश शुरू हो जाता है और मनुष्य मदमस्त सा बन जाता है। उस वक्त मोह कर्म की प्रचुरता का प्रसंग होता है। इस मोह कर्म की उदय की स्थिति के साथ यदि मिथ्यात्व भी जुड जाता है तो विवेक शक्ति दब जाती है। विवेक रहता है तो जीवन का दुरुपयोग नही होता है, वरना पहली बात जवानी; फिर अविवेकता और उसके साथ धन सम्पत्ति तथा प्रभुत्व का योग मिल जाता

है तो उस मदमस्त जीवन का कहना ही क्या ? अनर्थ के लिये एक बात ही काफी होती है और फिर चारो बातें मिल जाय तो अनर्थपूर्ण दुष्टता मे तब किसी बात की कमी नहीं रह जाती है।

ऐसी ही दुष्टता उन छ गोठीले पुरुषो की चारो ओर फैली हुई थी। चारो अनर्थ के कारण उनके जीवन मे मौजूद थे। वे एक दिन घूमते २ उद्यान की तरफ निकल गये जहां अर्जुनमाली की पत्नी फूल चुन रही थी। वह सुन्दर थी। उसको देखकर इन दुष्ट पुरुषों ने उसके साथ बलात्कार करने का निश्चय कर लिया। इस दुर्बुद्धि के साथ वे वहां के यक्ष मन्दिर में छिप कर बैठ गये। पूजा के फूल लेकर अर्जुनमाली और उसकी पत्नी हमेशा की तरह यक्ष मन्दिर मे आये। तब अनजाने में वे सभी अर्जुनमाली पर टूट पड़े तथा उसको रस्सियो से बांध दिया और तब उसकी पत्नी के साथ उन्होने अपनी पाप वासना पूरी की। उस वक्त अर्जुनमाली अकेला था और छ पुरुषो से जीतने की उसकी ताकत नही थी। वह बन्धन मे बन्धा हुआ छटपटा रहा था और सोच रहा था कि मैं किसकी मदद लू ? तब उसका इतना ज्ञान नहीं था कि वह अपने आत्म बल को प्रदीप्त बनाता। उसको यही ध्यान आया कि जिस यक्ष की मैं ठेठ से पूजा करता आया हू, उसी यक्ष से सहायता देने की प्रार्थना करूं। वह अत्यन्त क्रुद्ध था और उसने यक्ष की प्रतिमा के सामने जोरों से माग की कि या तो वह उसको अत्याचार का बदला चुकाने की ताकत दे वरना वह उस यक्ष की प्रतिमा को टुकड़े २ करके फैंक देगा। यक्ष में वैक्रिय शक्ति थी— उसका मुद्गरपाणि नाम था। उसका उपयोग लगा और वह अर्जुनमाली के शरीर मे प्रवेश कर गया।

तब अर्जुनमाली यक्षाधीन होकर बड़ा बली हो गया। उसने बहुत भारी लोहे का मुद्गर उठा लिया। भारी हुंकार भर कर वह मुद्गर को घुमाता हुआ उस तरफ दौड़ा जिस तरफ वे छ गोठीले पुरुष उसकी पत्नी के साथ दुराचार मे व्यस्त थे। अर्जुनमाली के मन मे यही आक्रोश घूम रहा था कि किस प्रकार इन दुष्टों से वह उनके अत्याचार का बदला ले ? उसके मन में यह विचार भी भर गया कि जिसको मैं अपनी प्राणवल्लभा समझता था, वह भी इनके अत्याचार मे योग देने वाली बन गई। वह उनके दुराचार से पहले मर क्यों नहीं गई ? अगर स्त्री की मजबूती रहे तो पुरुष अत्याचार नहीं कर सकता है। रावण सीता का क्या बिगाड़ सका था महासती धारिणी भी इतना कैसे सफल रही ? अर्जुनमाली का क्रोध इस रूप में उन छ पुरुषों तथा अपनी पत्नी के रूप मे नर नारी पर भड़क उठा। वह उन नारी को दंड देने के लिये आतुर

बन गया। उसने अपने लौह मुद्गर से उन सातों का वहीं प्राणान्त कर दिया। छः पुरुष और एक नारी—ये हत्याएं उसके दिमाग पर छा गईं।

अर्जुनमाली की दृष्टि यहीं तक सीमित नहीं रही। वह उस अनीति को बढावा देने वाले नगर के शासको और निवासियो को भी दंड देने लगा। प्रतिदिन छः पुरुषों और एक नारी की हत्या का उसका क्रम बन गया। अनीति के भागीदारों को भी वह छोडना नही चाहता था। अर्जुनमाली का यह सात हत्याओ का प्रसग प्रतिदिन चला और इस प्रसंग से कितना कुछ सहार हुआ—यह आपने शास्त्रो की वाणी से श्रवण कर लिया है। मोह कर्म के उदय के साथ मिथ्यात्व दशा के सकल्प से जो यह कार्य हुआ—यह आपकी दृष्टि में आ गया कि यह भी अर्जुनमाली का एक बल था, जिसे पशु–बल की संज्ञा दी जा सकती है। परन्तु प्रचंड से प्रचड पशु या पैशाचिक बल भी आत्म बल के सामने हार खाता है।

बल तो एक आत्म बल : बाकी सब बल बेकार :

अब दूसरी ओर दृष्टिपात करिये। उसी नगर में सेठ सुदर्शन भी रहते थे। वे यौवन सम्पन्न, सम्पत्तिशाली और प्रभुता धारी भी थे लेकिन थे पूर्ण रूप से विवेकशील। और उनके जागृत विवेक का ही सुपरिणाम था कि श्रेष्ठ जीवन जीने वाले थे और महान् आत्म–बली थे। जीवन शक्तियो के सदुपयोग के कारण उनका दृढ संकल्प सुकृत्यो के लिये सदा सन्नद्ध रहता था। वे भौतिकता मे नही बह रहे थे, उनका जीवन आध्यात्मिकता की भूमिका पर फल फूल रहा था।

तब राजगृही नगरी के बाहर उद्यान में भगवान् महावीर का पदार्पण हुआ। सब नगर–निवासियों को सूचना मिल गई कि सर्वज्ञ एवं सर्वदर्शी परमात्मा पधार चुके हैं, लेकिन अर्जुनमाली के सकट के कारण कोई भी बाहर निकलने की हिम्मत नही कर पा रहा था। अर्जुनमाली के उस पैशाचिक बल के सामने साधारण नागरिक जा ही कैसे सकता था? वही मानव उस बल के सामने जा सकता था जो उससे टक्कर लेने की समर्थता रखता। सर्वश्रेष्ठ आत्म बल होता है और एक आत्मबली ही पूर्ण साहस लेकिन पूर्ण शान्ति के साथ किसी भी दूसरे बल का सामना कर सकता है और उसको हरा सकता है। इसी आत्म बल की प्रबलता के कारण सुदर्शन सेठ ने उद्यान मे पहुंच कर भगवान् के दर्शन करने का निश्चय किया। उन्हे अपने आत्म बल पर अमिट विश्वास था।

सेठ सुदर्शन भगवान् के दर्शन की अमित निष्ठा के साथ घर से निकल पड़े। ज्योंही वे नगर के बाहर आये कि दो शक्तियों के बीच संघर्ष का अवसर उपस्थित हो गया। एक तरफ भौतिकता की शक्ति थी तो दूसरी तरफ आध्यात्मिक शक्ति। एक ओर यक्षाधीन अर्जुनमाली का पशु-बल था तो दूसरी ओर सेठ सुदर्शन का सर्वश्रेष्ठ आत्मबल। एक ओर अविवेक था, दूसरी ओर सुदर्शन विवेक का दीपक लेकर चल रहे थे। जो अपनी आन्तरिक शक्तियों को पहिचानते हैं, वे संकट के समय घबराते नहीं हैं और न हाय तोबा मचाते हैं। आने वाले संकट का वे शान्ति से सामना करते हैं तथा संकट को परास्त करके रहते हैं। सेठ सुदर्शन सच्चे श्रावक थे।

आप भी श्रावक हैं न? वैसे संकट की घड़िया तो दूर रही, लेकिन आप सामायिक लेकर बैठे हो और उस वक्त कदाचित् सर्प आ जाय तो क्या भगदड़ नहीं मच जायगी? जरा तुलनात्मक दृष्टि से देखिये। वे भी श्रावक थे और आप भी श्रावक हैं। अपने जीवन को तोलने का अवसर है कि धार्मिकता और आध्यात्मिकता वहां कितनी गहरी है और विवेक तथा दृढ़ संकल्प कितना सुदृढ़ है? हतोत्साहित होने की आवश्यकता नहीं है लेकिन जो संकल्प शक्ति अभी तक अन्तःकरण के विवेक के साथ नहीं जुटी है, उसे अन्तःकरण तक पहुंचाना है। अभी कर्त्तव्य पालना से भागना नहीं है, लेकिन उस पर दृढ़ता के साथ चलना है। ध्यान रखिये कि इसके लिये आत्मबल को जगाना तथा शक्तिशाली बनाना चाहिये। एक आत्मबल के सामने दूसरे सभी बल बेकार हो जाते हैं। आत्मबल की सर्वश्रेष्ठता सुप्रमाणित है।

आत्मबली मरने से डरता नहीं लेकिन आत्मबली क्या मरता है?

दूर से मुद्गर घुमाते हुए अर्जुनमाली को आते हुए देखा तो सेठ सुदर्शन ने सागारी संथारा ग्रहण कर लेना उचित समझा—यदि इस संकट से बच गये तो जीवन का आगार है, वरना जीवन पर कोई मोह नहीं है। शांति से समभाव रखते हुए वे एक स्थान पर विधिपूर्वक बैठ गये और ध्यानस्थ होकर पवित्र भावों में रमण करने लगे। अर्जुनमाली के प्रति भी उनके मन में रत्ती मात्र भी द्वेष नहीं आया। उनके मुख पर ऐसी आभा छा गई जैसे उनको मरने का कोई डर ही न हो और वास्तव में आत्मबली मरने से कभी डरता नहीं है। और जो मरने से डरता नहीं, हकीकत में क्या वह मरता भी है? सेठ सुदर्शन भी परम आत्मबली थे और उनके आत्मबल का ऐसा सुप्रभाव पड़ा कि अर्जुन भी आत्मबली बन गया।

सुदर्शन ध्यान में बैठकर भावना भाने लगे—हे भगवन्, मैं आपके दर्शन के लिये निकला हू और यदि इस उपसर्ग में शरीर से बच गया तो आपके चरणो मे पहुच कर दर्शन करूंगा और कदाचित् इस उपसर्ग में शरीर छूट गया तो मेरी आत्मा आपके शरण मे है ही—

अरिहते सरणं पव्वज्जामि, सिद्धे सरणं पव्वज्जामि,
साहू सरण पव्वज्जामि, केवलिपण्णत्तं धम्मे सरणं पव्वज्जामि।

मैं अरिहत, सिद्ध, साधु एव केवलीप्रणीत धर्म की शरण लेता हूं।

आप भी यह मागलिक पाठ रोजाना सुनते हैं, लेकिन किस भावना से? यह मगल पाठ सेठ सुदर्शन ने भी ग्रहण किया था, आज के श्रावक भी ग्रहण करते हैं, लेकिन ग्रहण करने की भावना में कितना क्या अन्तर होता है-यह आत्म विवेचना का प्रश्न है। सेठ सुदर्शन के सामने कितनी विपत्ति आई—साक्षात् मृत्यु ही चली आई थी, लेकिन सेठ ने यह प्रार्थना नही की कि हे भगवन्, मैं तो आपका भक्त हूं, आप मेरी जीवन रक्षा के लिये आओ। सच्चा आत्म-बली ऐसी कातर प्रार्थना नही करता है। वह यही प्रार्थना करता है कि मेरा जीवन आपकी चरण शरण मे रहे। सेठ ने भी कोई याचना नहीं की। भक्ति के प्रवाह मे भी याचना नही करनी चाहिये, न भगवान् को उपालंभ देना चाहिये। इतना समय धर्म करते हुए हो गया और धर्म का कोई फल भी नहीं मिला—यह गलत उपालभ होता है। सेठ सुदर्शन के दिव्य आत्मबल से प्रेरणा ली जानी चाहिये।

सेठ सुदर्शन ध्यानस्थ होकर बैठे हैं और उधर हुकार भरता तथा लोह मुद्गर को घुमाता हुआ अर्जुनमाली उनके निकट पहुंचा। उनको मारने के उद्देश्य से उसने मुद्गर के साथ भरपूर हाथ उठाया, लेकिन यह क्या? ऊपर उठा हुआ मुद्गर ही रह गया—हाथ नीचे नही झुका। सेठ सुदर्शन के सामने विपत्ति खडी थी। वे आखें बन्द किये पूर्ण आत्मबल के साथ यही सोच रहे थे कि इसका मुद्गर मेरा क्या बिगाड सकेगा? केवल शरीर रूपी कपडे को फाड़ देगा—उसकी क्या चिन्ता? सम्यक् दृष्टि श्रावक शरीर को मात्र पोशाक समझ कर आत्मा के भव्य स्वरूप को पहिचानता है। वह सोचता है कि यह पोशाक आज नही तो कल फटेगी, लेकिन आत्मा कहीं नही जायगी।

ध्यान से ज्योंही सेठ ने आंखें खोली और दृष्टि प्रसार किया, त्योंही यक्ष अर्जुनमाली के शरीर को छोड कर भाग खड़ा हुआ। एक आत्मबली की दृष्टि का अप्रतिम प्रभाव होता है। आध्यात्मिक शक्ति एक विशिष्ट शक्ति होती

है। जो धार्मिकता से ओतप्रोत होते हैं, उनका आत्मिक बल प्रगाढ़ होता है। उस बल के सामने अन्य कोई बल टिकता नहीं है। जैसे ही यक्ष निकला कि अर्जुनमाली धड़ाम से नीचे गिर पड़ा। मकानों की छतों से देखने वाले नगर-निवासी आश्चर्य चकित रह गये थे कि यह क्या हो गया? शायद यह दृश्य देखकर भी वे यह नहीं सोच पाये हों कि सुदर्शन सेठ जैसा आत्मबल उनके अन्दर भी रहा हुआ है जिसको सुदृढ बनाया जावे तो वे भी सुदर्शन सेठ जैसे बन सकते हैं। आज के श्रावक भी यह सोच पाते हैं या नहीं—कौन जाने?

अर्जुनमाली को आत्म-वत्सलता से सेठ ने उठाया, उसको सांत्वना दी तथा उसके आग्रह से उसको भी भगवान् के पास ले गये। भगवान् की वाणी सुन कर अर्जुनमाली प्रबुद्ध हुआ, दीक्षित बना एवं अपना आत्मोद्धार करके मोक्षगामी हो गया।

आप भी आत्मबल बढ़ायेंगे? उस पर विश्वास करेंगे?

आज शरीर बल पर विश्वास किया जा रहा है, भौतिक बल पर विश्वास किया जा रहा है, लेकिन लोगों का आत्मबल और आध्यात्मिक बल पर विश्वास नहीं होता है। पर्यूषण पर्व की स्थिति का प्रसंग चल रहा है। क्या आप अपने आत्मबल को बढ़ाने का निश्चय करोगे? क्या आप अपने आत्म-बल के पूर्ण विश्वास के साथ किसी भी संकट के सामने खड़े हो सकोगे? आत्म बल पर पूर्ण विश्वास होना चाहिये, लेकिन ध्यान रखिये कि यह विश्वास आप आज करें या कल करें अथवा कभी करें, परन्तु करना अवश्य होगा क्योंकि आत्म बल ही सर्वश्रेष्ठ बल होता है। जब भी इस पवित्र बल की प्राप्ति होगी, तब ही पता चलेगा कि इस आत्म बल की कैसी श्रेष्ठता होती है?

आध्यात्मिक शक्ति पर विश्वास करने से आत्म बल बनता है तथा बलिष्ठ होता है। कवि ने आत्म बल की महिमा में निम्न भाव प्रकट किये हैं—

आत्मबली पुरुष सारे जग से अकेला ही लड़ सकता है और सारे जग को हरा सकता है। शस्त्रास्त्र कैसे भी भयकर हो—वह भयभीत नही बनता है, क्योंकि उसके भीतर अथाह बल भरा हुआ होता है और उसके आधार पर वह हर वक्त निर्भय बना रहता है। ऐसे आत्मबल की प्रतिष्ठा उसका मूल्यांकन आप कर सकें या न कर सकें—यह आप सोचें लेकिन मानव को सर्वोच्च शिखर तक पहुचाना है तो वह कार्य आत्मबल से ही हो सकेगा।

आध्यात्मिकता को उन्नत बनावें, आत्मबल प्राप्त करें :

निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति के उन्नायक वीतराग देवो द्वारा प्ररूपित आदर्श सिद्धान्तों को समझें, हृदयगम करे तथा उनको अपने जीवन मे उतारें। आज आध्यात्मिक शक्ति पर वे लोग शोध कर रहे हैं, जो नास्तिक कहलाते हैं। वे अपनी आध्यात्मिक शक्ति का भिन्न २ रूप मे विकास भी कर रहे हैं। परा–मनोविज्ञान के क्षेत्र मे भी इसी के सहारे वे आगे बढ रहे हैं। उनकी शक्ति शुद्ध आध्यात्मिक नही है, फिर भी आध्यात्मिकता का पुट जरूर है। स्व० आचार्य देव दक्षिण भारत का एक रूपक फरमाया करते थे कि एक फक्कड को रेल–गाडी मे नही बैठने दिया तो उसने इ जिन के पहियो पर अपनी दृष्टि जमादी। उस दृष्टि मे से जैसे श्वेत प्रकाश निकल रहा था, जिससे इ जिन चल ही नही पा रहा था। आखिर उसको मनाया तब ही गाडी चल सकी। ये तो मामूली आत्मबल की बाते है। मुख्य बात तो यह है कि अपनी आध्यात्मिकता को उन्नत बनावें तथा आत्मबल बढावें। वह आत्मबल चमत्कार के पीछे नही पडेगा, वह तो आत्म विकास की सर्वोच्च श्रेष्ठता को प्राप्त करेगा।

आध्यात्मिक शक्ति को जगाने के लिये विवेक के साथ दृढ सकल्प को लेकर जो आगे बढता है, वह अपने प्रखर आत्मबल से इस ससार में अलौ–किक दिखाई देता है। वैसी ही अलौकिकता प्राप्त करने का प्रयत्न प्रत्येक आत्मा को करना चाहिये। आत्मबल की साधना सेठ सुदर्शन ने की थी किन्तु उनके प्रभाव से अर्जुनमाली भी आत्मबली हो गया। आत्म–बल के सहारे ही आत्म कल्याण सभव होता है।

गगाशहर–भीनासर

१७–८–७७

आत्मोन्नति के प्रति उत्साह क्यों नही ?

पद्म प्रभु जिन तुज मुज आंतरु रे........

पावन पर्व पर्युषण के पवित्र दिवसों में आत्मिक शुद्धि प्राप्त कर लेनी चाहिये। इस जीवन के भीतर में जिस तत्त्व का शासन है एव जिसकी बदौलत इस शरीर की चहल-पहल, उठना-बैठना, खाना-पीना, शयन आदि समग्र क्रियाएं हो रही हैं, उस विशिष्ट तत्त्व को इन दिनो मे निखार लिया तो जीवन का एक बहुत बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य बन जायगा।

आत्मशुद्धि के सहारे जितना भी कार्य बनेगा, वह सुन्दर एव समु- पतिकारक ही होगा। संसार मे रहने वाले व्यक्ति यदि सांसारिक कार्यों को भी व्यवस्थित रूप से करना चाहते हैं और उनमे नैतिकता एव शालीनता की दृष्टि रखना चाहते हैं तो इन सभी कार्यों के पूर्व उन्हें आत्मशुद्धि का खयाल रखना होगा। आत्मशुद्धि का लक्ष्य होगा तो उस अवस्था में ही वे कुछ शांति और सुख का अनुभव कर सकेंगे, क्योंकि आत्मशुद्धि मे ही आत्मोन्नति का कार्य सहज बनता है।

प्रमादो से घिरकर मनुष्य आत्मोन्नति से दूर होता है

प्रभावों में घिर कर कुछ ऐसे ऊँचे-नीचे प्रयत्न भौतिक उपलब्धियों के लिये करता रहता है कि वह स्वय की आत्मोन्नति से दूर हो जाता है।

मनुष्य जब अन्तराय कर्मों का बध करता है तो हस २ कर करता है। हसी, मजाक या मखौल मे किसी भी व्यक्ति की प्राप्ति मे बाधा डालता है तो वह उस समय डाली हुई बाधा उस कर्म के उदय मे आने पर उसके स्वय के लिये बाधा बन कर खडी हो जाती है। वह दूसरो को जो अन्तराय देना चाहता है, उसकी स्वयं की अन्तराय बध जाती है और अन्तराय कर्मों के बध के परिणाम स्वरूप वह आत्मा अपनी ही आत्मिक शुद्धि से दूर हटती है। वह वर्तमान जीवन को भी सही नही बना सकती है तथा इस जीवन मे उस अशुद्धता के कारण जैसे-तैसे जिन्दगी को गुजार करके परलोक के लिये प्रयाण कर जाती है। उसकी अपनी आत्मिक उन्नति की तरफ रुचि बनती ही नही है। वह स्थिति आत्मोन्नति के प्रति इस रूप मे उत्साहीनता की स्थिति हो जाती है।

इस स्वयं के कर्म बंधन को तोड़ना किस माध्यम से ?

यह सब जो प्रसग है—वह सब स्वय के द्वारा ही किये गये कर्म बधन के कारण है। इस कर्मों के बधन को किस माध्यम से तोडना—इसकी खोज कई प्रकार से की जाती है। पाश्चात्य विद्वानो ने भी अपनी शक्ति के अनुसार दार्शनिक दृष्टिकोण से अपना विवेचन किया है। मनोवैज्ञानिक आधार पर भी इस विषय का विश्लेषण हुआ है, लेकिन मनोविज्ञान स्वय इस समस्या का विशिष्ट निर्णायक नही है। इसका सही निर्णय एक विशिष्ट शक्ति द्वारा ही किया जा सकता है और उसका निर्णय भी स्वय के अनुभव पर आधारित होता है।

शरीर की प्रवृत्तियों को देखकर इन्सान भीतर मे सोचता है कि ये प्रवृत्तिया किसके माध्यम से हो रही हैं ? कई बार मनुष्य भीतर से चाहता है कि अमुक २ कार्य में नही करूं और सहसा उस कार्य में उसकी प्रवृत्ति हो जाती है, तब उसके मस्तिष्क मे चिन्तन चलता है कि मैं इस कार्य को नहीं करना चाहता था परन्तु मेरे द्वारा वह कर लिया गया, ऐसा क्यो हुआ ? शरीर उस कार्य को रोकना चाहता था और वह नही रोक पाया तो उसके पीछे कोई तथ्य अवश्य होना चाहिये। इस तथ्य के सम्बन्ध मे वह फिर जिस प्रकार की सस्कृति मे पला पोपा होता है, उसके आधार पर खोज करता है।

मनोविज्ञानवेत्ता मानसिक धरातल पर चिन्तन करते हैं। उनका

जिन तत्त्वों से निर्मित हुआ है उसको औदारिक वर्गणा कहते हैं। शरीर की वर्गणा से मन की वर्गणा अधिक सूक्ष्म होती है। ये वर्गणाए एक प्रकार के परमाणुओं की पिंड रूप होती हैं। व्यवहार मे कुल आठ वर्गणाओं का प्रयोग होता है। इनमें से सातवीं मनोवर्गणा कही गई है। इस वर्गणा से मन का निर्माण होता है। लेकिन मनोवर्गणा भौतिक तत्त्व है और भौतिक तत्त्व से भौतिक द्रव्य का ही निर्माण होता है। शरीर भौतिक है तो मन का वह भेद जो द्रव्य मन कहलाता है, वह भी भौतिक है। शरीर और द्रव्य-मन का घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। क्योंकि ये दोनो एकजातिय द्रव्य हैं। इन दोनों का वैसा ही सम्बन्ध है जैसा सम्बन्ध शरीर और आख का होता है। आख के द्वारा देखना तभी हो सकेगा जब आंख के पास द्रव्य मन आयगा।

तो जहां शरीर की स्थिति के साथ अन्दर के अन्त.करण का स्वरूप द्रव्य मन के रूप मे आता है, वहां इस द्रव्य मन की स्थिति का संचालन करने वाला भाव मन होता है और इस भाव मन को आत्मा की शक्ति माना गया है। भाव मन चैतन्य है, ज्ञानवान है, और क्रिया युक्त है क्योकि वह आत्मा की स्वय की क्रियावत्ती शक्ति के साथ जुडा हुआ होता है। इधर द्रव्य मन भी क्रियायुक्त होता है, लेकिन द्रव्य मन की भाव रहित अवस्था चैतन्य अवस्था नहीं होती है, फिर भी क्रिया रहती है। शरीर जिन तत्त्वो से बना है, वे जड तत्त्व हैं। लेकिन जड तत्त्व जो चैतन्य के साथ सयुक्त होता है, उसमे क्रिया की शक्ति तो अवश्य आ जाती है, परन्तु उसमे स्वय की संचालन शक्ति नही होती है। इसलिये शरीर, मन और आत्मा ये तीन वर्ग हैं और मन दोनो के बीच की कडी है जो अपने दो भेदो—द्रव्य मन तथा भाव मन के माध्यमो से आत्मा और शरीर को परस्पर सम्बन्धित बनाता है।

आत्मा पूर्ण चैतन्य स्वरूप होती है जो सचालन एव क्रिया शक्तियो से सम्पन्न होती है। भाव मन इस आत्मा की ही शक्ति का प्रतीक होता है और आत्म-शक्तियों को संचालित करता है। उधर शरीर पूर्णतया जड तत्वों से निर्मित होता है तो उसके साथ ही द्रव्य मन भी जड निर्मित होता है। यह द्रव्य मन और भाव मन का पारस्परिक सूक्ष्म सम्बन्ध है जो शरीर और आत्मा को जोड़ता है। जड-चेतन सयोग की मुख्य भूमिका का निर्वाह इस रूप मे मन करता है। भाव मन की चेतना से द्रव्य मन की कल्पना करते हैं और वह इस भाव मन को शक्तिशाली वनाता है। यह विषय मनो-विज्ञान की दृष्टि से अधिक गहन है, लेकिन मनोविज्ञान के स्वरूप तथा उसकी सम्पूर्ण पृष्ठभूमि का अपने अन्दर समावेश करने वाला है तथा मनोविज्ञान को

आदेश दिशा देने लगा है । यदि मनोविज्ञानवेत्ता इस प्रकार के तत्व को पहि-चान लें और शरीर, मन तथा आत्मा के पारस्परिक क्रियाशील सम्बन्धों को समझ लें तो उनकी सारी उलझी हुई समस्याए सुलझ जायेंगी ।

वे लोग समझें या न समझें, लेकिन जिन लोगों को सौभाग्यपूर्ण विरासत से जैनागम वाणी प्राप्त हुई है, वे तो इस परमाणु विज्ञान को आध्यात्मिकता के साथ समझने का अवश्य ही प्रयास करें । वे शरीर, मन तथा आत्मा के इन पारस्परिक क्रियाशील सम्बन्धों को भलीभांति हृदयगम करलें तथा उसके अनुसार अपने जीवन की गतिविधियों को सन्तुलित बना लें तो वे अपने जीवन में आशातीत आत्मोन्नति सम्पादित कर सकते हैं । उनके लिये तो ज्ञान एवं क्रिया की दृष्टि से यह उत्साहदायक पाथेय है ।

वर्तमान उत्साहहीनता के कारण बहिर्मुखी वृत्ति में निहित :

आज के वर्तमान जीवन की स्थिति किस प्रकार और किस रूप में ढल रही है ? आज के युवकों के मन में क्या क्या तरंगें हैं और उनका प्रवाह किस दिशा में बह रहा है ? क्या वे आत्मोन्नति के प्रति सजग हैं ? और यदि सजग नहीं हैं तो उनकी इस उत्साहहीनता के क्या कारण हैं ? क्या वे उत्साहहीन होकर किंकर्तव्यविमूढ़ तो नहीं बन रहे हैं ?

बैठी हुई है कि इस दुनिया में सर्वांगीण शक्ति का जो मापदंड है, वह अर्थ है। अर्थ से सारी उपलब्धियां प्राप्त की जा सकती हैं। वे देखते हैं कि समाज, राजनीति और अन्यान्य श्रेणी के क्षेत्रो मे वे ही लोग आगे बढते हैं और आदर पाते हैं जो अर्थ सम्पन्न होते हैं। इसलिये वे सोचते हैं कि हम येनकेन प्रकारेण अधिक से अधिक अर्थोपार्जन करें, ससार में अपनी बाहरी प्रतिष्ठा बनावें तथा शरीर सुख से सम्बन्धित जो कुछ पदार्थ हैं, उनका उपभोग करें। इस लालसा से जिनके पास अर्थ है, वे भी और अर्थ-हीन भी भरसक दौड भाग कर रहे हैं एव अपनी अमूल्य शक्तियो का अपव्यय कर रहे हैं। इस अपव्यय के बाद भी कोई गारटी नही है कि उनको मनचाहे पैसे की प्राप्ति हो ही जाय, बल्कि ज्यादातर लोग पैसे की हाय-हाय मे ही सारी जिन्दगी बरबाद कर देते हैं तथा ढाक के तीन पात तीन के तीन ही रहते हैं।

अर्थ की उद्दाम लालसा में बहिर्मुखी-वृत्तियां सारे मानव जीवन पर हावी होती जाती हैं और उनकी चपेट मे आकर मानव अपने भीतर झाकने की और अपने आत्म स्वरूप को पहिचाननने की चेष्टा ही नही कर पाता है। आत्मोन्नति का उत्साह फिर उसके अन्तःकरण मे कहा से पैदा हो ? बहिर्मुखी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियो के वशीभूत होकर बचपन खेल-कूद में बीत जाता है और तरुणाई अर्थ की लालसा मे—भोग की कामना मे बीत जाती है। तरुणाई जाने के साथ ही शक्तिया शिथिल होने लगती हैं तथा वृद्धावस्था पर-मुखापेक्षी होकर सन्तान का मुंह देखती रह जाती है। सारा जीवन पत्ते पर पडी ओस की बूंद के समान नष्ट हो जाता है और आत्मोन्नति के कार्य का कोई भी महत्वपूर्ण कदम नही उठता है। इस प्रकार की दयनीय स्थिति वर्तमान जीवन की वनी हुई है।

जिस आत्मा को इतना वैज्ञानिक तथ्यो से परिपूर्ण शरीर मिला है, शक्ति के साथ गति करने वाला मन मिला है और श्रेष्ठ जीवन का सचालन करने योग्य चेतना शक्ति मिली है, वह चैतन्य आत्मा स्वय ही अपने स्वरूप को नही पहिचान पा रही है तथा निजत्व से ही संज्ञाहीन सी वन रही है तो वताइये कि उसकी आन्तरिकता मे अपनी वास्तविक उन्नति का उत्साह कैसे पैदा हो, क्योकि उसकी चेतना पर जड शक्तिया हावी हो रही हैं तथा उसकी दृष्टि वहिर्मुखी वनी हुई है ?

आत्म प्रतीति, आत्म-ज्ञान एवं आत्म-पुरुषार्थ का मार्ग :

जिन आत्माओ ने भीतर के इस जीवन की महत्वपूर्ण कडियों को

संस्कारों की भी एक शृंखला होती है जिस के आधार पर सामाजिक पद्धति का विकास होता है। आज जिस रूप मे सामान्य जीवन बहिर्मुखी बना हुआ है, उसको देखते हुए नये अन्तर्मुखी वातावरण के निर्माण मे विशेष प्रयासो की आवश्यकता होगी। वर्तमान के बाल-समाज पर यदि इस वातावरण को प्रभावशाली बना दिया जाता है तो आगे आन्तरिकता, हार्दिकता एव आध्यात्मिकता की शृंखला जुडती हुई चली जायगी। फिर विशेष श्रम की आवश्यकता नहीं होगी। नई पीढी की दृष्टि को यदि अन्तर्मुखी सस्कार दे देते हैं तो उसमें जिज्ञासा भी जागेगी और वह प्रारंभ से ही आत्म-प्रतीति, आत्म-ज्ञान तथा आत्म पुरुषार्थ के माध्यमो से जीवन का सुव्यवस्थित निर्माण करती हुई चली जायगी।

एवंता आदि मुनियों के प्रसंग तथा छोटी अवस्था में साधु बनने का प्रश्न :

शास्त्र मे एवता मुनि का प्रसग आया है। एवंता मुनि एक छोटे से कोमल राजकुमार थे जिनकी आयु नो वर्ष से अधिक नहीं थी। शास्त्रकारो ने केवल ज्ञान के प्रसंग से केवली की जो उत्कृष्ट आयु बताई है, उसकी स्थिति से फलित रूप मे नौ वर्ष की अवस्था मे साधु बनता है और थोडे समय मे केवल-ज्ञान प्राप्त कर लेता है तो कुछ कम करोड पूर्व तक विचरण कर सकता है। बारहवी भिक्षु प्रतिमा का श्मशान में जाकर ध्यान लगाने का जो प्रसग है, उसमें २६ वर्ष की आयु और २० वर्ष की दीक्षा का विधान है जिसका यही अर्थ निकलता है कि ६ वर्ष के बालक को उसकी भावना के अनुसार साधु बनाना उचित माना गया है। इसका आधारगत भाव यही है कि इस अवस्था मे जो उत्तम सस्कार उस बालक पर पड़ जायेंगे, वे उसे आत्म-कल्याण की अनुपम प्रेरणा देते रहेंगे।

कई अपने आपको सुधारवादी कहने वाले यह प्रश्न खड़ा करते हैं कि इतनी छोटी अवस्था मे क्या किसी को साधु बनाना उचित है? यह कोई नई बात नही है। शास्त्रीय दृष्टि से एवता मुनि का रूपक है, जिस पर आप गहराई से चिन्तन करें।

प्राचीन काल में आज जैसी शिक्षा प्रद्धति प्रचलित नही थी। बच्चे पर कई विपयो व पुस्तको का बोझ नही लादा जाता था वल्कि प्रारभिक वय मे धाय माता उसे पालती और सस्कार देती थी। इसी रूप मे एवता राजकुमार का लालन-पालन हुआ। वह आठ वर्ष की आयु का था तव तक एक

एक कवि ने एवंता मुनि द्वारा नाव तैराने का काव्यमय भाषा में बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है—

एवता मुनिवर, नाव तैराई बहता नीर मे.... ....
बेले बेले करे पारणा, गणधर पदवी पाया ।
महावीर की आज्ञा लेकर, गौतम गोचरी आया रे.... ....
खेल रह्या था खेल कंवरजी, देख्या गौतम आता ।
घर घर मांही फिरे हींडता, पूछे इसडी बातां रे ... .
अहो बालुडा महापुण्यवता, भली जहाज घर आणी ।
हर्ष भाव हाथो से करने, बहराया अन्न पाणी रे..... ....
तू कांई जाणे साधपणाने, बाल अवस्था थारी ।
उत्तर दीधो ऐसो कंवर जी, मात कहे बलिहारी रे.... ....

आत्मोन्नति की भावना देना और उपजना :

एवता मुनिवर के रूपक पर चिन्तन करिये । साधु जीवन की बात बच्चे के मस्तिष्क में जितनी गहनता से नही आई थी उतनी गहनता से भगवान् के मस्तिष्क मे थी और इस बच्चे का सरक्षण उनके ध्यान मे था । स्वय बच्चा अपनी सुरक्षा के लिये क्या चिन्तन कर सकता है ? सुरक्षा का अर्थ आप जानते हैं । माता-पिता बच्चे के लिये अच्छी बात का चिन्तन करते हैं या बुरी बात का ? जो सुज्ञ माता-पिता होते हैं, वे बच्चे के लिये कभी बुरी बात नही सोचते हैं । बच्चे का जीवन उस पर उतना निर्भर नही है जितना सुरक्षा पर है । तो सोचिये कि एवता मुनि के माता-पिता ने साधु जीवन के सुरक्षात्मक आधार को सोच समझकर ही दीक्षा की आज्ञा दी । गजसुकमाल का भी ऐसा ही प्रसंग है और महारानी मदालसा ने अपने कुमारो को ऐसे सस्कार दिये कि वे आत्म-कल्याण की साधना मे निपुण बन गये ।

आत्मोन्नति की भावना इस रूप मे बालको को देनी होती है—उनमे प्रारंभ से ऐसे संस्कार डालने होते हैं कि जिनसे प्रभावित बनकर वे आत्मोन्नति के अभिलाषी बनें । आत्मोन्नति की भावना जब दी जाती है तभी संस्कार-सम्पन्न हृदयो मे वह भावना उपजती है । महारानी मदालसा अपने बालकों को झूला देते समय यह हालरिया गाया करती थी कि तू सिद्ध है, तू बुद्ध है । तू निरजन है और यह ससार स्वप्न है । इस तरह पालने के सस्कार बच्चे पर अमिट बन जाते हैं ।

इस दृष्टि से चिन्तन करें तथा बच्चों मे पवित्र संस्कार भरने का

क्षमा भी एक तप है।

पद्म प्रभु जिन तुज मुज आंतरू रे.......

इस चैतन्य देव को जागृत करने के लिये शब्द-रचना भी माध्यम बनती है। शब्द का प्रयोग सीमित ही होता है तथा कुछ सीमा तक ही वह पहुच सकता है। असीम तक पहुचने की क्षमता इस शब्द मे नही होती है। शब्द इस आत्मा को एक स्वर बताता है कि जिससे वह अमुक विषयो से चुप हो जाय। इस अन्तर्चेतना मे कर्मों के योग से जो कुछ भी उथल-पुथल हो रही है, उसमे शोरगुल और होहल्ला मचा हुआ है। उस भीतरी कोलाहल को शान्त करने के लिये शब्द अपना काम करते हैं। दूसरे शब्दो मे कहूं तो शब्दों के पीछे सवार होकर आने वाले जो भाव हैं, वे उसको शमित करते है। शब्द का अर्थ शब्द तक होता है और भावो का प्रभाव भावो तक जाता है।

यह क्षमा-याचना का जो प्रसग है। इस अवसर पर 'खमतखामणा या खमाऊ सा' शब्दो का सभी प्रयोग करते हैं। अगर यह प्रयोग कोरे शब्दो का ही हो और उनको भीतर के भाव नही छूते हों तो केवल उन शब्दो का कितना सा महत्व होता है? उन शब्दो के साथ यदि भावों का प्रभाव भी जुडा हुआ हो तो निश्चय ही उन शब्दो का प्रयोग तथा भावों का प्रभाव एक प्राभाविक तपश्चर्या का रूप ले लेता है। क्षमा भी एक तप है और यह जीवन में महत्वपूर्ण परिवर्तन लाने वाला तप होता है।

शब्दों का प्रयोग, जब भावनाओ से जुड़ता है:

वाहन कैसा भी हो, उस वाहन का उतना महत्त्व नही है, जितना उस वाहन को काम मे लेने वाले का होता है। शब्द का प्रयोग जड तत्त्व नहीं करता। जड मे शब्द हो सकते हैं लेकिन वह करता नही है। शब्दो का प्रयोग करने वाली चैतन्य आत्मा होती है और वह अपने अन्तर्गत भावो को

बोलने वाले की ऐसी आन्तरिक शक्ति जुडी होती है कि वे सुननेवालों के भावों को बरबस जगा देते हैं। क्षमायाचना के शब्द भी कभी-कभी ऐसा चमत्कारिक प्रभाव दिखा देते हैं जो दो हृदयो को भावाभिभूत बना कर जोड देते हैं।

शुभ शब्दों के शुभ भाव आत्मा में उतर जाने चाहिये :

अक्षर ज्ञान की दृष्टि से अक्षर ज्ञान सीखा जाता है। सीखना एक बात है और उसको आत्मसात् करना दूसरी बात है। शुभ शब्दो के शुभ भाव भी आत्मा मे उत्तर जाने चाहिये। विद्यालयो मे विद्यार्थियो को बहुतेरे विषयो की शिक्षा सिर्फ बुद्धि के धरातल तक ही सीमित रहती है। एक विद्यार्थी उस शिक्षा को ग्रहण कर लेता है तो अपनी स्वय की बुद्धि के अनुसार अमुक अमुक क्षेत्र में काम करने लग जाता है। बुद्धि के विस्तार के अनुसार वह व्याख्यान भी दे सकता है। सामाजिक अथवा राष्ट्रीय मंचों पर खडा होकर वह समाज या राष्ट्र को सुनाने लगता है कि नैतिकता से रहना चाहिये। प्रश्न उठता है कि पहले नैतिकता से किसको रहना चाहिये ?

वह बुद्धिवादी शब्द जरूर बोल रहा है लेकिन उस का असर क्या पड रहा है—इसका उसको कोई पता नही होता है। वह अपने ही भीतर भी देखने की चेष्टा करे तो पता लगेगा कि वहा भी नैतिकता की क्या दशा है? जिसको अपने अन्दर देखने और खोजने का अवसर मिलता है तो वह भी अगर मात्र बुद्धि से काम लेने वाला है तो शब्दो की स्थिति शब्दो की सीमा तक ही रह जायगी। किन्तु यदि वह उन शब्दों को अपने अन्त करण के भावों के साथ जोडेगा तथा उन भावो को अपने आत्म-चिन्तन मे उतारेगा और तदनुसार विशेष प्रयत्न करेगा तो उसके जीवन मे महानता को प्राप्त करने की अवस्था आ सकती है।

प्रार्थना मे यह जो कहा गया है कि पद्म प्रभु की आत्मा मे और मेरी आत्मा में आज जो अन्तर रहा हुआ है, वह किस प्रकार दूर हो—तो उस अन्तर को दूर करने मे शब्द और भाव सबल माध्यम बन सकते हैं। आज जो आत्मा की स्वरूप स्थिति हो रही है, वह उसकी मूल स्थिति नहीं है। अनादिकाल से आत्मा की विपरीत आदत बन रही है और वह आदत भी इतनी अमरकारक हो गई है कि कितने भी महत्त्वपूर्ण शब्द हो, उसका ध्यान उस ओर जाने से रह जाता है या छूट जाता है। यह आत्मा इस आदत के अधीन बन गई है। मैं कुछ भावात्मक बातें कहने का आदी हो गया हूं फिर भी इनको स्मरण करने के लिये कुछ बातें कह ही देता हूं।

थोडी देर बाद अध्यापक ने फिर वही प्रश्न पूछा और युधिष्ठिर ने फिर वही उत्तर दिया। इस तरह तीन दिन निकल गये। अध्यापक ने पूछा—अब तो याद हो गया? युधिष्ठिर ने कहा—कुछ-कुछ हुआ है। अध्यापक को क्रोध आ गया कि इतना छोटा सा पाठ भी इतने दिन तक पूरा याद नही हो रहा है। उन्होने कसकर युधिष्ठिर के गाल पर एक थप्पड लगा दिया। फिर पूछा—अब याद हुआ? युधिष्ठिर ने मुस्कराकर कहा—अब कुछ-कुछ हो रहा है। अध्यापक को उनकी मुस्कुराहट देखकर आश्चर्य हुआ, वे बोले—क्या तुम्हारे थप्पड लगती नही है, हस कैसे रहे हो? जब थप्पड खा लेने के बाद भी युधिष्ठिर के मन मे अध्यापक के प्रति कोई ग्लानि नही हुई, कोई रोष नहीं आया तथा मन में कोई उथल-पुथल नही हुई तो उन्होंने उत्तर दिया—गुरुदेव, अब मुझे पाठ भली-भांति याद हो गया है। शब्द की दृष्टि से तो 'क्षमा कुरु' मुझे एक मिनिट मे ही याद हो गया था, किन्तु मैं सोच रहा था कि इन शब्दो के अर्थ को अपने जीवन मे घटित कर दू, तभी कह सकता हूं कि मुझे पाठ याद हो गया। मैं अपने अन्दर के कोलाहल को शान्त कर रहा था और जब आपने थप्पड लगाया तो मुझे अनुभव हुआ कि 'क्षमा कुरु' का पाठ मेरे जीवन मे कार्यान्वित हो गया है—आत्मा मे उतर गया है।

अब सोचिये कि क्षमायाचना का प्रसंग सवत्सरी महापर्व के अवसर पर कैसे उपस्थित किया जाय? इस विषय पर मैं बोल रहा हू, लेकिन जितना बोलना सरल है, उतना इसी बोलने को जीवन के व्यवहार मे ढाल लेना सरल नही है। लेकिन अच्छी बात यही होती है कि जो क्षमा के शब्द आपने अपने मुह से निकाले हैं, वे भविष्य के व्यवहार मे उतरने चाहियें। निरर्थक शब्दो का कोई महत्त्व नहीं होता है—यह याद रखें।

मृगावती की अपूर्व क्षमा-भावना और ज्ञान का अनन्त प्रकाश :

मृगावती एक सम्राट की महारानी थी, जिसने महावीर प्रभु के उद्-बोधक शब्द सुने, वे शब्द उसकी आत्मा के भीतर तक पहुचे और उसने अन्दर चुप्पी साधी। महारानी ने सोचा—मैं इस अमूल्य मानव जीवन को इन पाच इन्द्रियो के विषयो के पोषण मे—कोलाहल मे—व्यतीत कर रही हू, यह मेरा स्वभाव नही है। महारानी ने अपनी आत्मा के स्वभाव को समझा तो विभाव की आदत को वदलने लगी। महावीर की वाणी सुनने के बाद उसने साम्राज्य के वैभव का मह छोड दिया तथा वे नम्र बन गई। मन और इन्द्रियो को उन्होने जड तत्त्वो की आसक्ति से बाहर निकाल लिया तथा महावीर के इस सन्देश पर गभीरता से वे विचार करने लगी कि— "समय, गोयम, मा पमायए।"

लिये सारे वातावरण को भी प्रकाशित कर गया । क्षमा भावना की अपूर्व भावना से ज्ञान के अनन्त प्रकाश मे वे रमण करने लगीं । अब उनको कुछ भी समझने की आवश्यकता नहीं थी । वे शुद्ध, बुद्ध और परमानन्द की अवस्था मे पहुच गई ।

उस स्थान पर सर्वथा अधकार था । चन्दनबाला जी और सभी सतियाँ निद्राधीन थी । केवल मृगावती जी जाग रही थीं और जाग क्या रही थी—अपने अनन्त ज्ञान के प्रकाश मे समस्त लोक को हस्तामलकवत् देख रही थी । तभी उन्होने क्या देखा कि एक विषधर काला सर्प चन्दनबाला जी के हाथ की तरफ बढता हुआ चला आ रहा था । वे उठी और धीरे से उन्होने चन्दनबाला जी के हाथ को सर्प के मार्ग मे से हटा दिया । लेकिन चन्दनबाला जी भी सतत जागृत केवल द्रव्य निद्रा मे थी, उस स्पर्श से वे उठ गई और पूछा कौन ? उत्तर मिला—मैं आपकी शिष्या मृगावती । एक विषधर सर्प आपके हाथ की तरफ बढ रहा था, इस कारण मैंने आपका हाथ हटाया था। मृगावती जी की नम्रता उच्चतम ज्ञान की उपलब्धि के साथ और अधिक बढ़ गई थी, जबकि केवल ज्ञानी हो जाने की अवस्था मे उनका पद गुरूआणी जी से ऊपर हो गया था । वास्तव मे ज्ञान बढे तो जीवन की श्रेष्ठता बढनी चाहिये ।

चन्दनबाला जी ने आश्चर्य के साथ पूछा—जब इतना गहरा अधकार छाया हुआ है तो तुमको सर्प कैसे दीख गया ? क्या उत्तर दिया मृगावती जी ने—आपकी कृपा दृष्टि से । यह नही कहा कि मुझे सर्वोच्च ज्ञान हो गया है । 'अरे, क्या केवल ज्ञान तो नही हो गया ? चन्दनबाला जी ने पूछा । फिर भी उन्होने यही उत्तर दिया—आपकी कृपा दृष्टि हो तो केवल ज्ञान मे क्यो कमी रहे ? मृगावती जी के विनय का आचरण अद्‌भुत था। इधर चन्दनबाला जी सोचने लगी कि मैंने ऐसी श्रेष्ठ आत्मा को उपालभ दिया जिससे उसने तो क्षमा भावना आत्मसात् करली, किन्तु मैंने शायद क्षमा भावना की पूर्णता प्राप्त नही की । उनकी शुभ भावना की श्रेणी क्षमाभावना की नम्रता के साथ समुन्नत होती गई और उन्हे भी केवल ज्ञान प्राप्त हो गया । अपूर्व क्षमा भावना का प्रभाव अनुपम होता है ।

अहं वृत्ति का त्याग करेंगे, तभी क्षमा-भावना प्रबल होगी :

क्षमा भावना की विपरीत वृत्ति अहवृत्ति होती है । यह अहं वृत्ति भला-बुरा नही देखती, सिर्फ अपनी टेक रखना चाहती है । अपनी गलती को

मन में उठनेवाले विचारों की भीड । उस अन्दर की भीड को अपने सामने से गुजरने दीजिये—उसकी दिशा को मोड दीजिये । देखिये कि मन से ठुकराये हुए कौन-२ बाहर आ रहे हैं ? यह मोह राजा, ये विकार, यह अहंकार, यह माया—सब बाहर निकल जायेंगे, अगर आपकी क्षमा-भावना प्रबल बन जायगी ।

विकारी वृत्तियों को त्यागने में और क्षमा-भावना को अपनाने में शब्दो के उच्चारण की ज्यादा जरूरत नहीं है—अन्त.करण की भावनाओ को आन्दोलित करने की आवश्यकता होती है। प्रतिक्रमण करें तो भीतर-ही-भीतर पापो के प्रति ग्लानि हो और भावना की उच्चतर श्रेणी मे पापो का त्याग कर दिया जाय । एक बार पापो को शनै· शनै छोडने लगेंगे तो फिर प्रायश्चित का अवसर नही रहेगा । तब अन्त करण सावधान बन जायगा और सावधानी की अवस्था मे स्खलित होने की आशंका नही रहती है । उस समय सतत जाग्रति की अवस्था बन जाती है ।

जाग्रति की अवस्था मे ही सच्ची क्षमायाचना का प्रसंग बनता है । ऐसी क्षमायाचना सबको सीखनी चाहिये और मृदु भावना का निर्माण करना चाहिये । यह क्षमा भी एक महान् तप है और तपने पर ही तप सिद्ध होता है । अत क्षमा की वृत्ति भी अभ्यास से पनपेगी ।

गंगाशहर-भीनासर

दि० २१-८-७७

मन में उठनेवाले विचारों की भीड। उस अन्दर की भीड को अपने सामने से गुजरने दीजिये—उसकी दिशा को मोड दीजिये। देखिये कि मन से ठुकराये हुए कौन–२ बाहर आ रहे हैं ? यह मोह राजा, ये विकार, यह अहं-कार, यह माया—सब बाहर निकल जायेंगे, अगर आपकी क्षमा–भावना प्रबल बन जायगी।

विकारी वृत्तियों को त्यागने में और क्षमा–भावना को अपनाने में शब्दो के उच्चारण की ज्यादा जरूरत नहीं है—अन्त.करण की भावनाओ को आन्दोलित करने की आवश्यकता होती है। प्रतिक्रमण करें तो भीतर–ही–भीतर पापो के प्रति ग्लानि हो और भावना की उच्चतर श्रेणी मे पापो का त्याग कर दिया जाय। एक बार पापो को शनै शनै छोडने लगेंगे तो फिर प्राय-श्चित का अवसर नही रहेगा। तब अन्त करण सावधान बन जायगा और सावधानी की अवस्था मे स्खलित होने की आशंका नही रहती है। उस समय सतत जाग्रति की अवस्था बन जाती है।

जाग्रति की अवस्था मे ही सच्ची क्षमायाचना का प्रसंग बनता है। ऐसी क्षमायाचना सबको सीखनी चाहिये और मृदु भावना का निर्माण करना चाहिये। यह क्षमा भी एक महान् तप है और तपने पर ही तप सिद्ध होता है। अत क्षमा की वृत्ति भी अभ्यास से पनपेगी।

गंगाशहर–भीनासर

दि० २१–८–७७

ये ही भाव व्यक्त किये गये हैं—

> पदम प्रभु जिन तुज मुज आतरू रे,
> किम भाजे भगवन्त ?
> कर्म विपाक कारण जोइने रे,
> कोई कहे मतिमन्त ।

इस आत्मा-परमात्मा के स्वरूप अन्तर का मुख्य कारण कर्म विपाक बताया गया है और कर्म विपाक को तोडकर ही आत्मा-परमात्मा की एकता स्थापित की जा सकती है ।

एकता की छोटी-मोटी दृष्टिया, प्रधान दृष्टिकोण का अभाव :

आज के युग मे मानव एकता की स्थिति को बनाये रखने के लिये विविध प्रयत्न करता रहता है सोचता है कि भाइयो-भाइयो के बीच मे अगर कोई विभेद या फूट है तो उसको एकता मे बदल देनी चाहिये । परिवार तथा समाज मे किसी रूप मे अलगाव हो गया हो तो उसे दूर कर दिया जावे तथा उन सम्बन्धो को एकता पर आधारित बना लिया जावे । समाज और राष्ट्र के बीच मे भी विभेद आया हो तो उसे भी मिटाने की चेष्टा की जाय। लेकिन प्रत्यक्ष रूप से एकता के प्रधान दृष्टिकोण का साधारणतया अभाव-सा दिखाई देता है । इन सब तरह की एकताओं का विचार आने के साथ-साथ आत्मा-परमात्मा की एकता पर अधिकांश लोगो के मन मस्तिष्क में न तो विचार आता है और विचार आ भी गया तो उसको प्राप्त करने के सम्बन्ध में क्रियाशील चरण कम ही उठते हैं ।

किन्तु यह अनुभव की वस्तुस्थिति है कि इन सब क्षेत्रो में भी एकता कायम करने का जो विचार आता है, उस विचार की प्रेरणा कहा से फूटती है ? दीर्घदृष्टि रखने वाले विशिष्ट पुरुषो की भावना जीवन को एक ही धरा-तल पर सजोने की रहती है । समझते हैं आप कि यह सम-स्वर कहां से प्रस्फुटित हो रहा है ? यह एकता की भावना, आत्मीय समानता की भावना तथा आत्मा-परमात्मा की एकता की भावना हमारी अपनी आत्मा की मूल भावना है जो छोटे-छोटे स्रोतों के लिये तो जागृत हो रही है लेकिन अपनी मूल भावना के प्रति उसकी जागृति नही हो रही है-यह दशा विचारणीय है। ध्यान रहना चाहिये कि इस मानव जीवन का प्रधान दृष्किोण अपनी आत्मा को इसका वास्तविक परम-शुद्ध-स्वरूप दिलाकर परमात्मा के साथ एकता साधने का है । यह एकता इस रूप मे होगी कि विशुद्ध बनकर यह आत्म-स्वरूप

संसार-सागर से पार होकर सदा-सदा के लिये ज्योति में ज्योति के समान परमात्मा स्वरूप में एकीभूत हो जायगा-स्थित और स्थिर हो जायगा ।

निज-स्वरूप की अनुभूति के साथ लक्ष्य की ओर गति :

इस आत्मा में जब जागृति की धारा चलती है तथा सामान्य रूप से भी जब अपने निज-स्वरूप का वह आभास पाती है तो फिर वह निष्क्रिय नही रहती है । वह सोचती है कि निज-स्वरूप का सामान्य सा आभास भी जब इतना आनन्ददायक होता है तो उसकी अनुभूति कितने महान् आनन्द की प्रदाता होगी ? उसकी चिन्तन धारा मे तब उच्चतर कल्पना चलती है कि यदि आत्मा के समग्र शुद्ध-स्वरूप को प्रकट कर लिया जाय तो उस आनन्द के अनुभव का तो कहना ही क्या ? चिन्तन के इन क्षणो मे वह परमात्मा-स्वरूप की तरफ भी अपने दिव्य चक्षुओ से देखने का यत्न करती है और जब परमात्मा का पूर्ण प्रकाश पड़ता है तो मन मे छटपटाहट लगती है-आत्मा तिलमिला उठती है । ऐसा क्यो होता है ?

इसलिये कि निज-स्वरूप मे और प्रभु के स्वरूप मे जो अन्तर है, उसको शीघ्र-से-शीघ्र कैसे दूर किया जाय ? तब वह आत्मा ज्ञानीजनो के समीप मे जाकर इस अन्तर को समाप्त करने की विधि का ज्ञान करती है । उसे ज्ञान होता है कि यह अन्तर कर्मों के कारण है । कारणो को जान कर वह इन कारणों को दूर करने का जब सही निष्ठा के साथ प्रयास प्रारम्भ करती है, तभी उसकी लक्ष्य की ओर गति होती है । निज-स्वरूप की आन्तरिक अनुभूति एवं स्वरूप-शुद्धि की प्रबल भावना के साथ ही लक्ष्य की ओर गति सम्भव बनती है ।

अधिक कर्म एकत्रित किये जाते हैं, उतने ही अंशों में मेरा स्वरूप परमात्म-स्वरूप से दूर होता जाता है—परमात्मा तक पहुचने का लक्ष्य छूट जाता है। कर्म विपाक का यह विज्ञान आत्मा के ध्यान मे आ जाता है तो वह शुभ परिणामो को लेकर कर्मों के बधन को तोडने में सक्रिय बन जाती है।

इसके विपरीत यदि शुभ परिणामो की धारा नही फूटती है और अशुभ परिणाम आत्म-स्वरूप पर छाये हुए रहते हैं तो कर्म पैदा करने के निमित्त वाले पदार्थों की भावना ही तीव्र बनी रहती है और ऐसे विभाव में रमण करती हुई आत्मा के स्वरूप वाले व्यक्ति का जीवन 'भज कल्दारम्' में ही उलझा रहता है। बाह्य सुखो की उन कामनाओ से ग्रस्त होकर वह अपने जीवन का ह्रास करता रहता है। कभी-कभी कुछ जागृति के क्षण आते हैं तो वह आत्मा-परमात्मा की भी कुछ बात कर लेता है और फिर अपनी कामना पूर्ति के जाल मे पड जाता है। कई व्यक्ति तो ऐसे भी होते हैं जो आत्मा परमात्मा की बात दिखावे के लिये अथवा किसी स्वार्थकारी भावना के साथ कर लेते हैं और जड पदार्थों की लालसा मे ही भटकते रहते हैं। वे सोचते हैं कि परमात्मा का नाम लेलें, भजन करलें तो हमे धन सम्पत्ति मिल जायगी और ससार के सुख प्राप्त हो जायेंगे। अधिकांश व्यक्तियो के मन मे आध्या-त्मिक क्षेत्र मे चलते हुए भी ऐसी लालसा बनी रहती है-चाहे वह स्पष्ट रूप से न दिखाई दे। यह तो एक तरह की सौदेबाजी की भावना होती है। ऐसे लोग ऊपर से तो प्रकट करते हैं कि वे आत्म-शक्ति से साक्षात्कार करने के प्रयास कर रहे हैं लेकिन मन के भीतर ये ही विचार रहते हैं कि जितनी पांच इन्द्रियो की सुख-सुविधा जुट जाय, उतनी जुटालें सो ठीक है। उसके बाद आत्मा के साथ एकीभूत हो जांय तो धन्य बन जायेंगे।

ऐसी दो मुखी भावना के साथ न तो लक्ष्य स्पष्ट होता है और न लक्ष्य की ओर जाने की गति ही प्रारम्भ होती है। लक्ष्य एक होता है और गति मे निष्ठा बनती है तभी प्रगति का क्रम सुव्यस्थित होता है।

वासनाओं से मन विरत नही होता, तो साधना खंडित हो जाती है:

साधना के क्षेत्र में क्रियाशील बन जाने के बाद भी यदि उसका मन वासनाओ से विरत नहीं होता है तथा उसकी पूरी आन्तरिकता के साथ निज-स्वरूप की अनुभूति नहीं बनती है तो उसकी ऊची साधना भी खडित हो सकती है। लक्ष्य के प्रति स्पष्टता और गति के प्रतिनिष्ठा दोनो साधना की सुरक्षा के लिये आवश्यक होती हैं। उसके लिये यह समझना भी आवश्यक होता है

कि आत्मा के साथ कर्मों की संलग्नता की क्या अवस्था है, संयुक्त कर्मों को किस प्रकार हटाया जा सकता है, कर्मों को पैदा करने की शक्ति कैसे आती है और कैसे कर्मों को हटाने का पुरुषार्थ सफल बनाया जा सकता है ? कर्म विपाक का ज्ञान भली प्रकार कर लिया जाता है तथा वासनाओं से मन को विरत कर लिया जाता है तो साधना में एकाग्रता एवं स्थिरता जम जाती है। यदि मन ऐसा नहीं कर पाता है और एकता में भी अनेकता पैदा करता रहता है तो इससे उसकी ऊंची साधना भी दूषित हो जाती है-खंडित हो जाती है।

यहाँ तप की दीर्घकाल की साधना के बल पर ऋषि महर्षि बन गये लेकिन जब वासनाओं का अन्धड़ आया और उसमे वे उलझ गये तो उनकी सम्पूर्ण साधना भ्रष्ट हो गई। ऋषि विश्वामित्र और मेनका का प्रसंग आपके ध्यान में होगा ही। ऐसा ही एक प्रसंग आषाढ़भूति का है।

मुनि के काम आ जायगा, मैं तो फिर भी यों ही रह जाऊंगा । अतः रूप परिवर्तन करके आषाढभूति तीसरी वार नट के घर चले गये । समझते हुए भी नट ने फिर लड्डू वेहरा दिया और वह जान गया कि यह साधु लड्डू के लिये ही बार-बार आ रहा है । फिर उसके मन मे आया कि यह तीसरा लड्डू तपस्वी मुनिजी लेंगे तो मेरा हाल तो वैसा का वैसा ही रह जायगा । सो चौथी बार आकृति बदल कर वे फिर नट के घर में पहुच गये ।

विश्वकर्मा नट को तब विचार आया कि यह साधु साधना के पीछे नही है और स्वाद के पीछे पड रहा है तथा खाने को लालायित है तो क्यों नही इसको मैं अपने धनोपार्जन का साधन बना लू ? उस नट के दो सुन्दर कु वारी कन्याए थी, उनको उसने कहा—देखो, यह साधु मोदक के लिये तीन बार तो आ चुका है और अब रूप बदल कर चौथी बार आ रहा है और यह शरीर के रूप बदल लेता है सो करामाती भी है । तुम इसको प्रसन्न करके पति बनालो तो बहुत सुख भोगोगी । बार-बार रूप बदल कर जब यह लोगो को नृत्य दिखायगा तो अपने को भारी आमदनी भी होगी । इस तरह उसने अग्रिम रूप से दोनो युवा रूपवती पुत्रियों को सकेत कर दिया ।

अब चौथी बार आषाढभूति मुनि जब नट के घर मे प्रविष्ट हुए तो उन लडकियों ने उनके सामने ऐसे हाव भाव दिखाए कि वे उनकी तरफ आकर्षित हो गये । हा, उन्होने इतना जरूर कहा कि एक बार मैं अपने गुरूजी से पूछकर वापिस आऊगा । इतना कह कर वे गुरु जी के पास पहुचे और उनके सामने चार लड्डु रख दिये । गुरु ने पूछा—ये चारो लड्डू क्या एक ही घर से लाये हो ? आषाढभूति ने सही-सही बात बतादी कि वैक्रिय लब्धि का प्रयोग करके वह लड्डू लाया है । गुरु समझ गये कि इसका मन वासनाओ में लिप्त है । उसने यह भी कह दिया कि नट की दोनों कन्याओ के साथ भी सम्बन्ध का प्रसग जुड रहा है । यह सुनकर गुरु ने काफी समझाया कि यहा तुम हाथी पर बैठे हो, गधे की सवारी करने के लिये क्यों जा रहे हो ? नही मानने पर गुरु ने इतना ही कहा—जा ही रहा है तो एक प्रण तो करके जा कि तू मद्य-मास का सेवन नही करेगा और करने वालो के साथ सम्बन्ध भी नही रखेगा । क्योंकि उस घर मे इसका प्रयोग होता होगा । आषाढभूति ने त्याग ले लिया कि मैं स्वयं मद्य-मास सेवन नही करूगा तथा मद्य-मास सेवन करने वाले के साथ सम्बन्ध नही रखूगा और इस त्याग का दृढता से पालन करूंगा ।

को तोड देने पर ही आत्मा और परमात्मा की एकता स्थापित हो सकती है। इसका अर्थ ही यह होता है कि दोनो स्वरूपो के बीच की दूरी समाप्त हो गई है और दोनों स्वरूप एकीभूत हो गये हैं। आत्मा ही अपने स्वरूप को परम बनाकर परमात्मा बन जाती है।

मैं आपके समक्ष परमात्मा से प्रार्थना कर रहा था और यह सकेत देना चाहता था कि आप और हम एक ही लक्ष्य को लेकर चलते हैं। यह लक्ष्य इस रूप मे है कि अपने आत्म-स्वरूप और परमात्म-स्वरू के बीच में जो विशुद्धता सम्बन्धी दूरी है उसको दूर करें। लेकिन सोचने की बात यह है कि उसको दूर करने की हमारी तैयारी क्या है? क्या इन सांसारिक पदार्थों का परित्याग करने के लिये आप तैयार हैं? मोह और लालसा को छोडने की तत्परता है? आपकी वृत्तियां किस दिशा में चल रही हैं—इसका लेखा-जोखा आप ही लें। क्या वे त्याग की तरफ बढ रही हैं अथवा भोग मे ही लिप्त हो रही हैं? यह अपने अन्त करण को जाचने-परखने का प्रसग है। जो अपने आत्म-स्वरूप को पहिचानता है तथा आत्मालोचना द्वारा स्वरूप-शुद्धि करता रहता है, वही इस मार्ग पर अग्रसर बन सकता है। प्रारभ मे साधना की स्थिति कठिन मालूम होती है लेकिन जब उसमे अभ्यस्तता बन जाती है तो सावधानी से चलते हुए साधना की सफलता भी प्राप्त की जा सकती है।

आत्मा और परमात्मा की एकता की साधना थोडी कठिन साधना अवश्य है लेकिन रसदार और वह भी खडित रसवाली नही, अखडित रसवाली साधना होती है। एकता के रस के साथ आत्मा का सयोग जुडता है तो वह एकता का सूत्र भी बन जाता है।

एक साधक निरन्तर परमात्मा के समीप जाता रहे :

सच्ची साधना की कसौटी ही यह होती है कि एक साधक निरन्तर परमात्मा के समीप जाता रहे और इस सीमप जाते रहने की क्रिया का निर्णायक कोई अन्य नहीं होगा बल्कि उसकी अपनी आत्मानुभूति ही इतनी प्रखर बन जानी चाहिये कि वह हर समय निर्णायक का कार्य करती रहे।

जैसे एक व्यक्ति कपडे को धोता है तो उसे उतनी ही बार धोता है अथवा वैसी ही सामग्री का प्रयोग करता है, जिस रूप में मैल उस कपडे पर चढा हुआ हो। एक बार साबुन या सोडे का प्रयोग किया और धो लिया, तब वह कपड़े को खोलकर देखता है कि मैल कितना और कैसा हटा है। उसको समझ मे आता है कि कपडे पर अभी भी काफी मैल है तो वह अधिक उग्र सामग्री का प्रयोग करता है। पुन पुनः निरीक्षण की आवश्यकता इस-

लिये होती है कि वह उस कपड़े को पूर्ण रूप से स्वच्छ बना लेना चाहता है। इसी रूप में एक साधक को बार-बार आत्म-निरीक्षण की आवश्यकता पड़ती है, यह देखने के लिये कि उसकी साधना और तपाराधना के फलस्वरूप कितने कर्मों का क्षयोपशम हुआ है तथा आत्म-स्वरूप की कितनी मलिनता दूर हुई है? यह साधक का ही आत्म-निर्णय होता है कि उस मलिनता को पूर्ण रूप से धो देने के लिये अभी और क्या करना है?

यह आत्म-निरीक्षण, आत्मालोचना, आत्म-निर्णय की प्रक्रिया जब निरन्तर चलती रहती है तो आत्मा की उज्ज्वलता निरन्तर निखरती रहती है। यह प्रक्रिया परमात्मा के समीप में जाने की प्रक्रिया होती है। आत्मा का पहले मलिन स्वरूप होता है, फिर उसको साधना और तप से धोया जाता है तब वह उज्ज्वल होने लगता है तथा उस उज्ज्वल के साथ आत्मिक गुणों का श्रेष्ठ सामंजस्य हो जाता है तो वह उज्ज्वल स्वरूप परम-पद को प्राप्त कर लेता है। इस रूप में अपने जीवन का श्रेष्ठ निर्माण करने की ओर प्रगति करना ही परमात्मा की उपासना होती है।

आध्यात्मिक एकता से आत्मा-परमात्मा की एकता :

सरदारशहर वाले भाई नेमिचन्द जी ने भजन सुनाया। मैं सुझाव देता हूं कि मेरे लिये कुछ कहने की बजाय वे अपनी बौद्धिक-शक्ति का प्रयोग पूर्व के महापुरुषों के गुणगान में करें। मैं तो नाना (छोटा) हूं और नाना बड़ा कब? वह अपनी विधि से ही बढ़ेगा। महापुरुषों की विधि से कैसे बढ़ेगा? मैं एक साधक की विधि से यही संकेत देना चाहता हूं कि आप सब लोग आध्यात्मिकता के महत्व को समझें तथा इस क्षेत्र में पूर्ण एकता स्थापित करें। यह आध्यात्मिक एकता आत्मा-परमात्मा की एकता में सहायक बनेगी। इस आध्यात्मिक एकता से सम्बन्धित रहें तो एक दिन परमात्मा के साथ एकता भी प्राप्त कर सकेंगे।

ये आठ कर्म : आत्मा के रोग

पद्म प्रभु जिन तुज मुज आंतरु रे........

आत्मा के सर्वश्रेष्ठ स्वरूप, सर्वथा पवित्र अवस्था एवं सदा सर्वदा के लिये परम शान्ति के रूप को प्राप्त करने के लिये जब एक भव्य प्राणी प्रयत्न करता है तो वह इस लक्ष्य से विपरीत तत्त्वो का भी चिन्तन करता है।

यह आत्मा अपवित्र क्यों बनी, जिस को अब पवित्र बनाना है ? उसकी पवित्र शान्ति वर्तमान अशान्ति मे क्यो परिणित हुई ? उसका मूल और वास्तविक स्वरूप ओझल क्यो हो गया ? इस परिस्थिति का जब अनुसधान करने का प्रसग आता है तो ज्ञानीजन उसके सामने स्पष्ट स्थिति एव श्रेष्ठ मार्ग का निर्देशन देते हैं। वे बताते हैं कि आत्मा को अपवित्र बनाने मे कर्मों का सयोग ही विशेष रूप से कारण है। जब कर्म आत्मा के स्वरूप को धूमिल बनाते हैं तो उसकी शान्ति भग हो जाती है। उससे उसकी वृत्तियो मे तथा जीवन के क्रिया कलापो मे अशान्ति छा जाती है। यह अशान्ति आत्मा के लिये महान् रोग–रूप सिद्ध होती है। और जब कोई रोग लग जाता है तो उसका निदान भी आवश्यक होता है तथा उसकी चिकित्सा भी अनिवार्य हो जाती है।

अशान्ति का भीषण रोग आत्मा के लिये महान् अशान्तिकारक ·

अशान्ति का भीषण रोग इस आत्मा के लिये महान् अशान्तिकारक होता है। यदि इस रोग का सही निदान नही किया जाता है तथा उसके बाद इस रोग की सही चिकित्सा नही की जाती है तो भीषण अशान्ति से यह आत्मा भारी वेदना पाती है और उससे अनेकानेक अन्य रोगों को एकत्रित करती हुई साघातिक रूप से रुग्ण बन जाती है। भयंकर रूप से रोगग्रस्त होकर कभी–कभी आत्मा पुन स्वस्थ ही नही हो पाती है।

नीतिकारों का कहना है कि रोग और शत्रु को कभी बढ़ने ही नहीं देना चाहिये। रोग को प्रारम्भ से ही सम्हाल लेना चाहिये तथा [illegible] रहते हुए उस को समूल नष्ट कर देना चाहिये। यदि आत्मा की [illegible] बढ़ती रहती है तो जीवन की स्थिति किसी भी प्रकार ठीक नहीं रहती है। शरीर व बाहरी भागों के लिये तो फिर भी मनुष्य की सावधानी रहती है। किसी किसी अवयव में यदि कोई पीड़ा पैदा हो जाती है तो वह तुरन्त किसी योग्य चिकित्सक के पास में पहुच जाता है। चिकित्सक भी उसके रोग का विवरण सुनकर या उसके रोग की परीक्षा करके उसको उचित औषधि दे देता है। चिकित्सक अपनी समझ-शक्ति के अनुसार रोग के कारण मालूम करता है और उन कारणों को दूर करने की औषधि देता है। सामान्य रूप से वह रोगी पर उन कारणों को प्रकट नहीं करता है—इसके कई कारण हो सकते हैं, लेकिन [illegible] चिकित्सक रोगी को रोग के कारण भी बता देता है, ताकि वह रोगी उन रोग के कारणों को छोड़ने का प्रयत्न करे। वह कारणों के साथ चिकित्सा और पथ्य की विधि भी बता देता है। इस दृष्टि से स्वास्थ्य लाभ करने की अभिलाषा रखनेवाला रोगी उन सबके प्रति सावधान होकर निर्देशा-नुसार काम करता है। इसके विपरीत सब कुछ जानकर भी यदि रोगी केवल पढ़ ही करता है अथवा अपनी जीभ वगैरह को वश में नहीं रख पाता है तो वह अपने स्वास्थ्य को और अधिक बिगाड़ देता है। सु-स्वास्थ्य की सच्ची भावना रखने वाला रोगी उस पदार्थ का कभी भी उपयोग नहीं करेगा, जिस पदार्थ का चिकित्सक निषेध कर देता है और चिकित्सक द्वारा बताये हुए पथ्य का भी नियमित रूप से सेवन करता है। चिकित्सक चिकित्सा प्रबन्ध करता है, लेकिन रोग निवारण और स्वास्थ्य लाभ मुख्यरूप से रोगी की स्वस्थ होने की उत्कट भावना तथा सतर्क वृत्ति पर निर्भर करता है।

आत्मा के रोग और अपराध उसके फल और दंड :

आत्माए सारे ससार के अन्दर विद्यमान हैं सब आत्माएं अलग-अलग शरीर धारण करके चल रही हैं। वे सब रोगी है अथवा निरोगी हैं इसका निर्णय भी अभी नही हो रहा है। ऐसा कभी किसी मनुष्य से पूछ लिया जाय कि आपके जीवन की अवस्था रोगी है या निरोगी—तो क्या उत्तर मिलेगा? यह कह देगे कि शरीर की अवस्था से तो निरोगी है। यही चिन्तनीय स्थिति है कि मनुष्य का ध्यान शरीर की तरफ हो जाता है, आत्मा की तरफ नही जाता।

आत्मा रोगी है—अपराधी है इसीलिये तो जेलखाने मे पडी है। क्या आपको जेलखाना मालूम होता है? कौनसा है जेलखाना? यह जो शरीर है—यही आत्मा का रोग है, आत्मा का जेलखाना है। जेलखाना क्या होता है? एक बन्द कोठरी होती है जिस के बाहर आप अपनी इच्छा से नही जा सकते हैं। स्वतत्रता जहां समाप्त हो जाती है, वही जेलखाना कहलाता है। क्या यह आत्मा शरीररूपी कोठरी में बधी हुई नही है? क्या यह आत्मा अपनी स्वतत्र इच्छा के अनुसार विचरण कर सकती है? यह आत्मा स्वय स्वतत्र नही है—शरीर के अधीन बनी हुई है। शरीर को छोड कर कही नही जा सकती है। वह शरीर के साथ ही चलती है और सोच नही पाती है कि इस जेलखाने मे कब तक रहेगी और कितनी जिन्दगियां जेलखाने मे ही बितानी पड़ेंगी? ऐसी भावना उसमे कब जगेगी कि वह जेलखाने मे से निकलने का प्रयास करे? यह भावना भी तब जगती है, जब आत्मा इस शरीर को हकीकत मे जेलखाना समझलेती है। कैदी बननेवाला ही सोचता है कि मैं कैद मे क्यो आया? जसे रोगी अपने को रोगी मानता है तो रोग की छानबीन करता है, उसी तरह से कैदी भी अपने अपराध का पता चलाता है।

अपराध भी कई तरह के होते हैं। एक तो साधारण अपराध होता है। एक व्यक्ति ने चलते हुए किसी दूसरे के टक्कर लगादी। उसका इरादा टक्कर लगाने का कतई नहीं था, लेकिन असावधानी से टक्कर लग गई और वह व्यक्ति गिर गया—मामूली चोट आ गई। अब वह व्यक्ति कानूनी कार्यवाही करावे और उस व्यक्ति को दड भी मिले तो वह दड कितना सा होगा? मामूली दड ही मिलेगा क्योंकि वह यह सफाई दे देगा कि टक्कर मैंने जान-बूझ कर नही लगाई। लेकिन जिस व्यक्ति ने गुस्से मे आकर दूसरे को धक्का दिया हो और इरादतन चोट पहुचाई हो तो उसको अधिक दड मिलेगा। इससे आगे एक व्यक्ति ने दूसरे की गर्दन ही तलवार से उडा दी और उसका अपराध प्रमाणित हो गया तो बताइये उसको कितना दड मिलेगा? या तो फांसी

और उन कर्मों के स्वभाव को प्रकृति कहते हैं। कर्मों के समूह आत्मा के साथ सम्बन्ध जोडते हैं। कर्म आत्मा के साथ जुडते हैं तभी उसके अपराध का क्या किस रूप मे दंड मिलेगा—यह निर्धारित हो जाता है। यह प्रश्न उठ सकता है कि जब कर्म बधा है तो बध की स्थिति का सारा हिसाब कौन रखता है? यह हिसाब रखने वाला कर्म बध का जो प्रकार है, उसको प्रकृति-बंध कहते हैं?

किसी प्राणी पर असावधानी से पैर लग गया—मन में ऐसी इच्छा नहीं थी, राग-द्वेष की भावना भी नहीं थी, क्रोध, मान, माया लोभ आदि किसी विकार के अधीन होकर भी उसकी हत्या नही की, लेकिन फिर भी शरीर की असावधानी से उसके प्राण छूट गये तो उस अपराध का भी कर्म बधन तो अवश्य होगा—भले वह एक समय मे बधे, दूसरे समय मे उदय मे आवे तथा तीसरे समय मे समाप्त हो जावे। ऐसा प्रसग केवलियो के साथ आता है। वीतरागदशा में पहुचे हुए तीर्थंकर भगवान्, जिन को सर्वोच्च दशा प्राप्त हो गई, वह महान् आत्मा भी जब सशरीर थी तो उस समय की उनकी क्रियाओ का भी इस रूप मे कर्म-बध अवश्य होता था। आप सोचेंगे कि केवली भगवान् के कर्म-बंध क्योंकर होगा? वे सर्वज्ञानी होते हैं और ज्ञान के प्रकाश मे विचरण करते हैं फिर भी जड़ के स्वभाव को नही बदल सकते हैं और शरीर के परमाणुओ की चचलता को नही रोक सकते हैं।

कर्म के प्रकृति-बध का कुछ ऐसा ही नियम है। केवल ज्ञानियो तथा तीर्थंकरो की महान् आत्माओ में अनन्त शक्ति होती है। शास्त्रकारो के अनुसार उनमे आत्म-ज्ञान का इतना प्रकाश होता है कि उस आलोक मे वे सकल लोक को हाथ मे रखे हुए आवले के समान देख सकते हैं तथा उनकी आत्म-शक्ति इतनी प्रवल होती है कि सारे ब्रह्माड को गेंद के समान उछाल कर एक लोक से दूसरे लोक मे फैंक सकते हैं। लेकिन वे भी अपने हाथ को एक वार जिन पुद्गलो पर रखते हैं, उसको वहा से उठा कर फिर से उन्हीं पुद्गलों पर नही रख सकते हैं। इसका कारण यह है कि आत्मिक-शक्ति पर उनका पूर्णत नियन्त्रण होता है, लेकिन चलायमान परमाणु पिंडो पर वह नियत्रण नही होता है। परमाणु इतने सूक्ष्म और चलित स्वभाव के होते हैं कि जिस परमाणु पिंड पर हाथ रखा, उतने मे उसके परमाणु निकल गये। वैसे ही चलते समय बडी सावधनी से चल रहे हैं, जरा भी प्रमाद नहीं है। इधर से वे रवाना हुए और उधर से चींटी आ गई व पैरों के नीचे दव कर मर गई। अब उनकी कषाय से विलगता थी, उनके अन्दर क्रोध तृष्णा आदि का नामोनिशान नहीं था, फिर भी शरीर से कर्म-वध हुआ।

कर्म-बंध के फल विचित्र-विचित्र रूप में प्रकट होते हैं :

उस अगरक्षक ने उस समय बदले का संकल्प लिया था । कई भव बीत गये—वे कर्म उदय मे नहीं आये । त्रिपृष्ठ वासुदेव की आत्मा भगवान् महावीर हुई और वह अगरक्षक जगली आदमी बना । भगवान् जंगल में ध्यानस्थ खड़े थे और वह उधर से निकला तो उनको देखते ही वह क्रोध से पागल हो गया—उसका बदले का सकल्प भडक उठा । उसने महावीर के कानो में कीले ठोक दिये । उस जन्म मे उस जगली आदमी द्वारा भगवान् को दिये गये इस कष्ट के सम्बन्ध मे सोचें तो उसका कोई कारण ज्ञात नही होता है । कर्म-बंध के फल जन्म-जन्मान्तरो के बाद भी विचित्र-विचित्र रूप मे प्रकट होते हैं।

कई मनुष्य कहते हैं कि कभी किसी अजनबी व्यक्ति को भी देखते हैं तो उसके प्रति प्रेम उमडने लग जाता है जबकि इस जीवन मे उससे पहले कभी मिलने का भी काम नही पडा होता है । किसी व्यक्ति को पहले कभी नही देखा, लेकिन पहली बार देखते ही उसके प्रति मन मे घृणा या क्रोध उत्पन्न हो जाता है । ऐसा क्यों होता है ? लोग अनुमान नही कर सकते हैं लेकिन जिसको देख कर प्रेम और प्रसन्नता उमड़ती है, यह मानिये कि उसके साथ पहले के किसी जन्म मे आपका प्रेम सम्बन्ध रहा है । घृणा या क्रोध पैदा होने की दशा मे उससे विपरीत अनुमान लगाया जा सकता है ।

ध्यानस्थ खडे भगवान् महावीर की आत्मा अपने स्वरूप मे चिन्तन कर रही थी । भगवान् सोच रहे थे कि ये जो आधि-व्याधि के रोग मेरी आत्मा को लगे हुए हैं, उनको यही पर समाप्त करना है । इन रोगों को जितना जल्दी समाप्त कर दूं उतना ही अच्छा है । जगल में वे किसलिये गये थे ? वे तपस्या करने के लिये गये थे । और तपाराधन क्या है ? अपनी आत्मा के रोगो का इलाज ही तो है । रोग का इलाज कैसे होता है—यह सोचने की बात है । वे जब ध्यान मे खडे थे तो उनको देखते ही उस जगली आदमी के मन मे तेज गुस्सा आया और यह विचार आगा कि इसके कान मे उबला हुआ शीशा डाल दूं लेकिन शीशा उपलब्ध नही था । फिर कीले दिखाई दे गये तो उन्हीं का प्रयोग कर लिया। आप सोचिये कि दोनों कानो से कीले ठोक ने से कितनी खून की धारा निकली होगी और कैसी असह्य वेदना हुई होगी ? लेकिन भगवान् ने सोचा—मुझे मेरे कर्मों का क्षय करना है तथा उसके लिये इस व्यक्ति पर तनिक भी द्वेष नही आना चाहिये । अपने अवविज्ञान मे उन्होने देख भी लिया कि यह उन्हीं का कर्म फल है । कर्म क्षय करने के लिये फल भोगते समय निर्विकार एव शान्त भाव होने चाहिये ।

कर्म-दण्ड के लिये वैसी ही मनोदशा होनी चाहिये, जैसी किसी फोड़े वाले रोगी की होती है कि यह फोड़ा कट जायगा तो मेरा सारा दर्द दूर हो जायगा, इसलिए वह आॅपरेशन के समय सहनशक्ति और शान्ति रखता है। इस फोड़े का जो डॉक्टर आॅपरेशन करता है, उसको आप आदर देते हैं या गालियां देते हैं? उसको अपना उपकारी समझते हैं। उसी तरह इस जीवन में भी जो आपको किसी भी प्रकार से कष्ट देने के लिये आता है, वह आपका उपकारी बन सकता है यदि आप उसके द्वारा दिये हुए कष्ट को बिना उस पर द्वेष भाव लाये शान्तिपूर्वक सहन कर लें। जो भी कष्ट आता है, वह कर्म फल के रूप में आता है और उस समय यदि क्रोध आदि विकार पैदा करते हैं तो फिर नये कर्मों का बंध हो जाता है। इस तरह आत्मा कर्मों से विलग नहीं हो पाती है।

कर्म-बंध के फल भी विचित्र-विचित्र रूप में प्रकट होते हैं, इसलिये जीवन में अधिक सावधानी की जरूरत पड़ती है कि कर्मों के उदय की वजह आने वाले कष्टों के समय स्वभाव की समता और शान्ति बनी रहे ताकि नये कर्म नहीं बंधे और पुराने कर्म चुक जावें। इस रूप में आत्मा अपने आठों कर्मों के रोगों का समूल निवारण कर सकती है।

आत्मा के कर्मों के रोग आत्मा ही चिकित्सक :

एक नहीं, इसको आठ-आठ रोग लगे हुए हैं और ये रोग कलक रहे हैं तो क्या निष्क्रिय ही बैठ रहेंगे ? यदि आपकी आत्मा मे तनिक भी विवेक की स्थिति जागृत होगी तो आप आत्मा को निर्मल एव स्वस्थ बनाने में जरा भी विलम्ब नही करेंगे । आप को बता दूं कि भगवान् महावीर के चिकित्सालय में बाहरी शस्त्रो से चिकित्सा नहीं होती है—आध्यात्मिक चिकित्सा होती है जिससे मन और आत्मा दोनो स्वस्थ और पवित्र बन जाते हैं ।

ऐसी चिकित्सा की सुविधा आपको अन्यत्र नही मिल सकेगी । यह आत्मिक चिकित्सा का प्रसग है और कर्म बधनो को तोडना होता है । यह कार्य आत्म-साधना से सम्पन्न होता है । प्रकृति और प्रदेश बध में कषाय नही है तो इन कर्मों का बधन एक समय वाला पुण्य रूप में होगा । लेकिन वह स्थिति छद्मस्त साधको मे नही आती है—वीतराग मे आती है । आत्मा की पूर्ण नीरोग स्थिति ही वीतरागता है । जितना राग और द्वेष है वह आत्मा का रोग है और जो अन्तिम रूप मे वीतरागता की स्थिति प्राप्त होती है, वह पूर्ण नीरोग स्थिति है—आत्मा का सम्पूर्ण स्वास्थ्य है । स्व मे सम्पूर्ण रूप से स्थित हो जाना ही स्वस्थ हो जाना है ।

इसलिये अपनी आत्मा के रोग निवारण एव स्वास्थ्य लाभ की सबसे पहले चिन्ता कीजिये और चिकित्सा कार्य मे जुट जाइये ।

गंगाशहर-भीनासर

२३-८-७७

में दिया है—

कारण जोगे हो बाधे बन्ध ने रे
कारण मुगति मूकाय ।

कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता । यदि कार्य के स्वरूप को भली-भांति समझना है तो उसके कारणो का अनुसंधान करना होगा । कारण खोज लेंगे तो सम्पूर्ण स्थिति स्पष्ट हो जायगी । कर्म-बन्धन या कर्मों का लेप भा एक कार्य है और इस कार्य के क्या कारण हैं—इस का अनुसधान-करने की आवश्यकता है ।

कहा गया है कि योग से ही कर्मों का बन्ध होता है तथा योग से ही मोक्ष की प्राप्ति भी होती है । बिना कारण यदि कार्य होने लगे तो कार्य आधारहीन बन जायगा । बिना कारण यदि कर्मों का बन्धन होने लगे, बिना कारण यदि कर्मों का लेप—मोह माया का पुट आत्मा पर लगने लगे तो परमात्मा भी कर्मों से नही बच सकेंगे । लेकिन परमात्मा सिद्ध भगवान् होते हैं और तीन काल मे भी उनके किसी तरह के बन्धन नही बन्धते हैं, न भीतर के, न बाहर के । नही लगने का कारण यह है कि बन्धन का हेतु उनमें नही है—बन्धन के कारण की ही विद्यमानता नही होती है ।

कर्म बधन का प्रधान कारण होता है इस आत्मा का अपना ही योग व्यापार अर्थात् मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग । इन श्रोतों से जब अशुद्ध वृत्तियों का निर्माण होता है तो उन वृत्तियो से तथा उनके द्वारा बनने वाली प्रवृत्तियो से कर्म बन्धन होता है - आत्म-स्वरूप पर कर्मों का लेप चढता है । इन पाच कारणो से आत्मा कर्म बांधती है । कर्म बन्धते हैं तो उन अशुभ कर्मों से दु ख पैदा होता है तथा आत्मा एव परमात्मा के स्वरूपों के बीच मे दूरी बढती जाती है । जीवन में इन कर्मों के कुफल से जगह-जगह कष्टो का सामना करना पडता है और कर्मों का फल भोगते समय भी हाय-हाय करते हुए नवीन कर्मो का बन्ध किया जाता रहता है । इस नवीन कर्म बन्ध से आगामी जीवन मे भी आत्मोन्नति के अवसर मन्द पड़ जाते हैं ।

इसलिये ज्ञानीजनो का यह उपदेश भव्यजनो के मन मस्तिष्क में आना चाहिये कर्म-बन्ध के कारणो का अनुसधान करके उन कारणो को समाप्त करने का कठिन प्रयास किया जाय ताकि कार्य के बनने का प्रसग ही नही रहे ।

कारण हैं तथा इन कारणों को कैसे समाप्त कर सकते हैं ? ये सब आत्मिक-ज्ञान की बातें हैं । मिथ्यात्व इस ज्ञान पर लेप चढा देता है और इसलिये मिथ्यात्व की मौजूदगी मे इन सब बातो की सही जानकारी नही होती है । जब तक यह आध्यात्मिक विज्ञान नही होता है, आत्मा का सहीमार्ग पर क़दम ही नही उठता है ।

विज्ञान शब्द से आप भौतिक विज्ञान का अर्थ न लें । भौतिक विज्ञान विज्ञान कहलाता है, लेकिन आत्मा का विज्ञान ही वास्तविक विज्ञान होता है और इसे आध्यात्मिक विज्ञान कहते हैं । विदेशो के कई बडे-बडे भौतिक वैज्ञानिको ने बहुतेरी नई-नई चीजों का आविष्कार किया है । उनका प्रयत्न काफी समय से भौतिक विज्ञान की तरफ लगा हुआ है और भौतिक विज्ञान मे उन्होने कई सफलताए अर्जित की हैं । भौतिक विज्ञान के आविष्कारो के प्रभाव से आज का मनुष्य आकाश मे ऊची ऊचाइयो तक उड सकता है तो समुद्र की अतल गहराइयो तक भी पहुच सकता है । उसने ग्रह-नक्षत्रों की दूरी को भी नजदीक बना लिया है । आवागमन के साधन ही नही, दूर सचार के साधनों का भी इतना विकास कर लिया है कि हजारो कोसो की दूरी पर बैठे रहकर आपस में बातचीत ही नही कर लेते हैं बल्कि बातचीत करते हुए एक दूसरे को देख भी सकते हैं। ऐसा लगता है, जैसे वे आमने-सामने बैठकर बातचीत कर रहे हो । इन सारे आविष्कारो को देखकर कुछ भोले लोग इस भौतिक विज्ञान पर इतने फिदा हो जाते हैं कि इसको ही सबकुछ मान बैठते हैं । उनका चिन्तन इसी तरफ चलता है और वे इसको आध्यात्मिक विज्ञान से भी बडा बतलाने लग जाते हैं । ऐसी मान्यता के कारण वे बाहर ही बाहर भटकते हैं, भीतर में प्रवेश नही कर पाते हे । उनका भौतिक विचार उनको मिथ्यात्व में लिप्त रखता है । वे आत्मिक ज्ञान मे बहुत दूर रहते हैं ।

आप जानते होंगे कि पानी में वायु प्रवेश नहीं करती है तथा जहां वायु रहती है, वहां पर पानी नहीं जाता । एक सरोवर की सतह पर एक घड़े को उल्टा रखकर उसको पानी मे पूरा डूबो दें, फिर भी उसमे पानी की एक बूद भी नहीं घुसेगी । घडे मे वायु होती है, अत पानी मे पूरा डूबने के बाद भी पानी की एक बूद को वह वायु घडे मे प्रविष्ठ नहीं होने देती है । वायु इतनी बलशालिनी होती है । घडे को टेढा करेंगे तो वायु निकलेगी और पानी घुसेगा । इस रूपक को समझिये । आज के मनुष्य के मन मस्तिष्क मे भौतिक विज्ञान की वायु भरी हुई है और वह उल्टा चल रहा है । अब उसमें आध्यात्मिक विज्ञान का जल तब भरे जब उसमें से वह वायु निकले । ये

कारण हैं तथा इन कारणों को कैसे समाप्त कर सकते हैं ? ये सब आत्मिक-ज्ञान की बातें हैं। मिथ्यात्व इस ज्ञान पर लेप चढ़ा देता है और इसलिये मिथ्यात्व की मौजूदगी में इन सब बातो की सही जानकारी नही होती है। जब तक यह आध्यात्मिक विज्ञान नही होता है, आत्मा का सहीमार्ग पर क़दम ही नही उठता है।

विज्ञान शब्द से आप भौतिक विज्ञान का अर्थ न लें। भौतिक विज्ञान विज्ञान कहलाता है, लेकिन आत्मा का विज्ञान ही वास्तविक विज्ञान होता है और इसे आध्यात्मिक विज्ञान कहते हैं। विदेशो के कई बडे-बडे भौतिक वैज्ञानिको ने बहुतेरी नई-नई चीजों का आविष्कार किया है। उनका प्रयत्न काफी समय से भौतिक विज्ञान की तरफ लगा हुआ है और भौतिक विज्ञान मे उन्होने कई सफलताए अर्जित की हैं। भौतिक विज्ञान के आविष्कारो के प्रभाव से आज का मनुष्य आकाश मे ऊची ऊचाइयो तक उड सकता है तो समुद्र की अतल गहराइयो तक भी पहुच सकता है। उसने ग्रह-नक्षत्रों की दूरी को भी नजदीक बना लिया है। आवागमन के साधन ही नही, दूर संचार के साधनों का भी इतना विकास कर लिया है कि हजारो कोसो की दूरी पर बैठे रहकर आपस में बातचीत ही नही कर लेते हैं बल्कि बातचीत करते हुए एक दूसरे को देख भी सकते हैं। ऐसा लगता है, जैसे वे आमने-सामने बैठकर बातचीत कर रहे हो। इन सारे आविष्कारो को देखकर कुछ भोले लोग इस भौतिक विज्ञान पर इतने फिदा हो जाते हैं कि इसको ही सबकुछ मान बैठते हैं। उनका चिन्तन इसी तरफ चलता है और वे इसको आध्यात्मिक विज्ञान से भी बडा बतलाने लग जाते हैं। ऐसी मान्यता के कारण वे बाहर ही बाहर भटकते हैं, भीतर में प्रवेश नही कर पाते हे। उनका भौतिक विचार उनको मिथ्यात्व में लिप्त रखता है। वे आत्मिक ज्ञान से बहुत दूर रहते हैं।

आप जानते होंगे कि पानी मे वायु प्रवेश नहीं करती है तथा जहा वायु रहती है, वहां पर पानी नहीं जाता। एक सरोवर की सतह पर एक घडे को उल्टा रखकर उसको पानी मे पूरा डूबो दें, फिर भी उसमे पानी की एक बूद भी नही घुसेगी। घडे मे वायु होती है, अत पानी मे पूरा डूबने के बाद भी पानी की एक बूद को वह वायु घडे मे प्रविष्ठ नही होने देती है। वायु इतनी बलशालिनी होती है। घडे को टेढा करेंगे तो वायु निकलेगी और पानी घुसेगा। इस रूपक को समझिये। आज के मनुष्य के मन मस्तिष्क में भौतिक विज्ञान की वायु भरी हुई है और वह उल्टा चल रहा है। अब उसमें आध्यात्मिक विज्ञान का जल तब भरे जब उसमें से वह वायु निकले। ये

भौतिक संस्कार वायु की तरह मजबूती से भरे हुए हैं।

मनुष्य के इन भौतिक सस्कारो के ही कारण पाचो इन्द्रियों की विषय कामना तथा अन्य पदार्थों की आसक्ति उसके मस्तिष्क मे इस मजबूती से भरी हुई है कि आध्यात्मिक विज्ञान की बातें वहाँ स्थान पाती ही नहीं हैं। जब तक उसके मस्तिष्क मे भौतिकता की वायु भरी रहेगी, तब तक आध्यात्मिकता का जल उसमें प्रवेश नही कर सकेगा और तब तक मिथ्यात्व का निवारण भी नही हो सकेगा। आत्मिक ज्ञान की विधि भी तब तक अपनी जडे नही पकड सकेंगी।

कर्मजन्य कष्टों की जलन और आध्यात्मिक विज्ञान का जल :

यह आत्मा कर्म-जन्य कष्टो की जलन से पीडित है—उस जलन से छुटकारा भी वह चाहती है, लेकिन मिथ्यात्व उस पर छाया हुआ रहकर उसको जलन से छूटने नही देता है। कोरी भौतिकता मे जो आस्था है वह मिथ्यात्व है—कर्म बन्धन का प्रधान कारण है और मिथ्यात्व की वायु मस्तिष्क में घुसी हुई है तो आध्यात्मिक विज्ञान का जल उसमें प्रवेश नहीं करेगा—जलन पर जल नहीं छिडका जायगा तो जलन कैसे मिटेगी और शान्ति कैसे मिलेगी ? आध्यात्मिक विज्ञान का जल ही मिथ्यात्व की जलन को मिटा सकता है और आत्मा को शान्ति प्रदान कर सकता है।

शान्ति तब मिलेगी जब पीडित आत्मा इस आध्यात्मिक क्षेत्र मे पहुंचेगी—सन्तो के माध्यम से वीतराग देवों की पवित्र वाणी को श्रवण करेगी। तब वह वाणी उसकी आन्तरिकता मे उतरेगी और उसको आत्म-स्वरूप की सुगन्ध देगी। उसकी परीक्षा बुद्धि तब यह चिन्तन करेगी कि महाराज जो बात कह रहे हैं, उसमे उसके विश्वास की बात व्यक्त होती है या नही, ससार परिभ्रमण की बात आती है या नही, अथवा नीति और अनीति की बात आती है या नही। वर्तमान जीवन के लिये क्या हितावह है और क्या भयावह—इस पर वह विचार करेगा इस विचार के बाद अगर उसका निर्णय कोरे भौतिकवाद की ओर जाता है तो यही समझना पडेगा कि उसके मस्तिष्क की वायु निकली नही है। लेकिन विवेकशील व्यक्ति उस विचार से सही निर्णय लेगा और वह अपनी जलन को मिटाना चाहेगा। वह आध्यात्मिक ज्ञान को ग्रहण करेगा तथा अपनी आत्मा को जाग्रत बनायेगा।

आज के युग में आध्यात्मिकता की बातें हर व्यक्ति के मन मे सहज रूप से नहीं पहुचती हैं। यह एक बहुत बडी क्षति है। हजारों लाखो विद्वान

कारण हैं तथा इन कारणों को कैसे समाप्त कर सकते हैं ? ये सब आत्मिक-ज्ञान की बातें हैं। मिथ्यात्व इस ज्ञान पर लेप चढा देता है और इसलिये मिथ्यात्व की मौजूदगी मे इन सब बातो की सही जानकारी नही होती है। जब तक यह आध्यात्मिक विज्ञान नही होता है, आत्मा का सहीमार्ग पर क़दम ही नही उठता है ।

विज्ञान शब्द से आप भौतिक विज्ञान का अर्थ न लें। भौतिक विज्ञान विज्ञान कहलाता है, लेकिन आत्मा का विज्ञान ही वास्तविक विज्ञान होता है और इसे आध्यात्मिक विज्ञान कहते हैं। विदेशो के कई बडे-बडे भौतिक वैज्ञानिको ने बहुतेरी नई-नई चीजों का आविष्कार किया है। उनका प्रयत्न काफी समय से भौतिक विज्ञान की तरफ लगा हुआ है और भौतिक विज्ञान मे उन्होने कई सफलताएं अर्जित की हैं। भौतिक विज्ञान के आविष्कारो के प्रभाव से आज का मनुष्य आकाश मे ऊची ऊचाइयो तक उड सकता है तो समुद्र की अतल गहराइयो तक भी पहुच सकता है। उसने ग्रह-नक्षत्रों की दूरी को भी नजदीक बना लिया है। आवागमन के साधन ही नही, दूर संचार के साधनों का भी इतना विकास कर लिया है कि हजारो कोसों की दूरी पर बैठे रहकर आपस में बातचीत ही नही कर लेते हैं बल्कि बातचीत करते हुए एक दूसरे को देख भी सकते हैं। ऐसा लगता है, जैसे वे आमने-सामने बैठकर बातचीत कर रहे हो। इन सारे आविष्कारो को देखकर कुछ भोले लोग इस भौतिक विज्ञान पर इतने फिदा हो जाते हैं कि इसको ही सबकुछ मान बैठते हैं। उनका चिन्तन इसी तरफ चलता है और वे इसको आध्यात्मिक विज्ञान से भी बडा बतलाने लग जाते हैं। ऐसी मान्यता के कारण वे बाहर ही बाहर भटकते हैं, भीतर में प्रवेश नही कर पाते हे। उनका भौतिक विचार उनको मिथ्यात्व में लिप्त रखता है। वे आत्मिक ज्ञान से बहुत दूर रहते हैं।

आप जानते होंगे कि पानी मे वायु प्रवेश नहीं करती है तथा जहां वायु रहती है, वहा पर पानी नहीं जाता। एक सरोवर की सतह पर एक घडे को उल्टा रखकर उसको पानी मे पूरा डूबो दें, फिर भी उसमे पानी की एक बूंद भी नही घुसेगी। घडे मे वायु होती है, अत पानी मे पूरा डूबने के बाद भी पानी की एक बूंद को वह वायु घडे मे प्रविष्ठ नही होने देती है। वायु इतनी बलशालिनी होती है। घडे को टेढा करेंगे तो वायु निकलेगी और पानी घुसेगा। इस रूपक को समझिये। आज के मनुष्य के मन मस्तिष्क में भौतिक विज्ञान की वायु भरी हुई है और वह उल्टा चल रहा है। अब उसमे आध्यात्मिक विज्ञान का जल तब भरे जब उसमें से वह वायु निकले। ये

भौतिक संस्कार वायु की तरह मजबूती से भरे हुए हैं।

मनुष्य के इन भौतिक सस्कारो के ही कारण पाचो इन्द्रियों की विषय कामना तथा अन्य पदार्थों की आसक्ति उसके मस्तिष्क मे इस मजबूती से भरी हुई है कि आध्यात्मिक विज्ञान की बातें वहा स्थान पाती ही नहीं हैं। जब तक उसके मस्तिष्क मे भौतिकता की वायु भरी रहेगी, तब तक आध्यात्मिकता का जल उसमें प्रवेश नही कर सकेगा और तब तक मिथ्यात्व का निवारण भी नही हो सकेगा। आत्मिक ज्ञान की विधि भी तब तक अपनी जडे नही पकड सकेंगी।

कर्मजन्य कष्टों की जलन और आध्यात्मिक विज्ञान का जल :

यह आत्मा कर्म-जन्य कष्टो की जलन से पीडित है—उस जलन से छुटकारा भी वह चाहती है, लेकिन मिथ्यात्व उस पर छाया हुआ रहकर उसको जलन से छूटने नही देता है। कोरी भौतिकता मे जो आस्था है वह मिथ्यात्व है—कर्म बन्धन का प्रधान कारण है और मिथ्यात्व की वायु मस्तिष्क में घुसी हुई है तो आध्यात्मिक विज्ञान का जल उसमें प्रवेश नहीं करेगा—जलन पर जल नहीं छिडका जायगा तो जलन कैसे मिटेगी और शान्ति कैसे मिलेगी ? आध्यात्मिक विज्ञान का जल ही मिथ्यात्व की जलन को मिटा सकता है और आत्मा को शान्ति प्रदान कर सकता है।

शान्ति तब मिलेगी जब पीडित आत्मा इस आध्यात्मिक क्षेत्र मे पहुचेगी—सन्तो के माध्यम से वीतराग देवों की पवित्र वाणी को श्रवण करेगी। तब वह वाणी उसकी आन्तरिकता मे उतरेगी और उसको आत्म-स्वरूप की सुगन्ध देगी। उसकी परीक्षा बुद्धि तब यह चिन्तन करेगी कि महाराज जो बात कह रहे हैं, उसमें उसके विश्वास की बात व्यक्त होती है या नही, ससार परिभ्रमण की बात आती है या नहीं, अथवा नीति और अनीति की बात आती है या नही। वर्तमान जीवन के लिये क्या हितावह है और क्या भयावह—इस पर वह विचार करेगा इस विचार के बाद अगर उसका निर्णय कोरे भौतिकवाद की ओर जाता है तो यही समझना पडगा कि उसके मस्तिष्क की वायु निकली नहीं है। लेकिन विवेकशील व्यक्ति उस विचार से सही निर्णय लेगा और वह अपनी जलन को मिटाना चाहेगा। वह आध्यात्मिक ज्ञान को ग्रहण करेगा तथा अपनी आत्मा को जाग्रत बनायेगा।

आज के युग में आध्यात्मिकता की बातें हर व्यक्ति के मन मे सहज रूप से नही पहुचती हैं। यह एक बहुत बडी क्षति है। हजारो लाखो विद्वान्

पंडित होंगे, लेकिन उनके मस्तिष्क में वास्तविक शक्ति का प्रवेश नहीं हो रहा है। एक तटस्थ न्यायाधीश की दृष्टि से वे चिन्तन करें कि उनका आन्तरिक जीवन कैसा है—भीतर से क्या आवाज उठती है और वह आवाज क्या वास्तविकता बताती है, लेकिन बाहरी दबावों के कारण किस प्रकार दबा दी जाती है और फिर स्वयं ही निर्णय लें कि वे सही मार्ग पर चल रहे हैं या गलत मार्ग पर ? यदि ऐसी चेष्टा वे करें तो वे आत्मिक विज्ञान की दिशा में भी प्रगति कर सकते हैं।

यों समन्वय की भावना से देखें तो भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों विज्ञान जीवन के बहुत बडे विज्ञान हैं। लेकिन आज एक प्रकार से भौतिक विज्ञान को इतना बढाचढा कर देखा जाता है कि आध्यात्मिक विज्ञान की तरफ दृष्टि ही नही जाती है। भौतिक विज्ञान जड तत्वो पर आधारित होता है तथा जब तक जड तत्व चेतन तत्व द्वारा नियंत्रित नही होते हैं तब तक उनकी गतिविधि सही नही बनती है। इस कारण आध्यात्मिक विज्ञान के नियंत्रण मे यदि भौतिक विज्ञान चलता है तो जीवन को दोनो विज्ञान समन्वित बन कर लाभान्वित कर सकते हैं। दोनों विज्ञानों का समन्वय इस लक्ष्य के साथ किया जाना चाहिये कि आत्म-स्वरूप पर भार रूप चढे कर्मों के लेप को हटाया जा सके। आध्यात्मिक विज्ञान का जल आत्मा के कर्मजन्य कष्टो की जलन को शान्त कर सके, तभी जीवन की सार्थकता है।

आध्यात्मिक विज्ञान की सर्वोपरि महत्ता

आत्मा की निर्मलता सर्वोच्च लक्ष्य :

कल्पना करें कि एक वैज्ञानिक ने बहुत बडा भौतिक विज्ञान का आविष्कार दुनिया के सामने रखा—टेलीविजन बनाया। एक दिन उस वैज्ञानिक का प्राणान्त हो गया—अब उसके शव से कहें कि वह उस टेलीविजन का निरीक्षण करे और उसके दोष दूर करे तो क्या उस वैज्ञानिक का शव वह कार्य कर सकेगा ? क्या अन्तर आया उस वैज्ञानिक के जीवन से उसकी मृत्यु में ? भौतिक अनुसधान ये वैज्ञानिक करते हैं, लेकिन इतने से अन्तर का अनुसधान क्यो नही करते हैं ? उस शक्ति का ज्ञान क्यो नही लेते जो जीवन के समय मे थी और मृत्यु में नही रही ? उनका भौतिक विज्ञान यह ज्ञान नही ले पाता है। यह क्षमता आध्यात्मिक विज्ञान मे ही रही हुई है और इसी कारण आध्यात्मिक विज्ञान की सर्वोपरि महत्ता मानी गई है, जिसको सही दृष्टि बना कर भौतिक वैज्ञानिको को भी माननी चाहिये।

जीवन और मृत्यु के रूप में प्रत्यक्ष प्रमाण से यह सिद्ध है कि जीवन में आध्यात्मिक विज्ञान ही सब कुछ होता है—भौतिक विज्ञान भी तभी समाज और व्यक्ति को सही लाभ पहुंच सकता है जब वह इस आध्यात्मिक विज्ञान से जुड़ा हुआ रहे। इस कारण आध्यात्मिक विज्ञान का अध्ययन करने के लिये दिमाग को खुला रखा जाना चाहिये। जिस वक्त आध्यात्मिक जीवन को शिक्षा मिले, उस वक्त भीतर के अन्य विचारो को अलग हटा देना चाहिये। यदि आप किसी बर्तन में कोई चीज लेना चाहते हैं और उस बर्तन मे से घासलेट की बदबू आ रही है तो पहले उस बदबू को दूर करेंगे, तभी उसमे देशी घी जैसी अच्छी चीज भर सकेंगे। अगर बर्तन की सफाई नही करेंगे और अच्छी चीज भर लेंगे तो वह चीज भी बदबू वाली हो जायगी। उस बिगाड़ मे भला बर्तन का क्या दोष होगा? घासलेट वाला बर्तन लेकर देशी घी लेने के लिये व्यापारी के पास मे जायेंगे तो वह यही कहेगा कि पहले बर्तन को एकदम साफ कर लो और फिर उसमे देशी घी लो। सन्त मुनिराज आपको यही बात बताते हैं।

जब आध्यात्मिक पाठशाला मे आप पहुचते हैं और शुद्ध घी के रूप में आध्यात्मिक विज्ञान को ग्रहण करना चाहते हैं तो पहले आप को यही ध्यान दिलाया जाता है कि विकारो के घासलेट से आपका मन दूषित हो रहा है—दुर्गन्ध से भभक रहा है। इसलिये पहले इस दूषण और दुर्गन्ध को मिटाओ ताकि शुद्ध माल शुद्धता के साथ टिक सके। इन्सान जहाँ भी चले, इस शुद्धता के साथ चले और अपने आप में स्थिर होकर चले तभी वह आध्यात्मिक विज्ञान को आत्मसात् कर सकेगा।

आत्मा की निर्मलता उसका सर्वोच्च लक्ष्य बनना चाहिये। वह सोचे कि मैं कौन हू? मैं शरीर मे हूं फिर शरीर के अधीन नही हू। मैं शरीर से परे हू इन्द्रियो से परे हू। मेरा अपना निज स्वरूप है तथा उसी स्वरूप की सामग्री निर्मलता मुझे अभीष्ट है। इस शरीर, इन इन्द्रियो तथा जड तत्वो पर नियंत्रण साधने की शक्ति मुझमे है, जिसको विकसित बनाकर मैं अपनी सम्पूर्ण आत्म-शक्ति को प्रकट कर सकता हू। यह जो चिन्तन है, वह आध्यात्मिक विज्ञान का चिन्तन है तथा जो अपनी आत्मा की सर्वोपरि महत्ता का अनुभव कर लेता है, वही अपनी आत्मा की सम्पूर्ण निर्मलता को भी अपना सर्वोच्च लक्ष्य बना लेता है।

आत्म-विश्वास एवं पुरुषार्थ से मिथ्यात्व का विनाश :

आत्मा मे विश्वास इतना सुदृढ बनना चाहिये कि उस आत्म-

विश्वासी नींद में भी पूछा जाय कि तुम कौन हो तो उसका उत्तर निकले—मैं आत्म-स्वरूप हू । नास्तिक से नास्तिक आकर कहदे कि आत्मा नामका कोई तत्व नही है तो भी वह उससे विचलित न हो । सभी 'मैं' शब्द का उपयोग तो करते हैं लेकिन 'मैं' को पहिचानते नहीं हैं—'मैं' पर विश्वास नहीं करते हैं—यह कैसी विडम्बना है ? 'मैं' को नही मानना अपना अपमान और तिरस्कार करना है । यह तो वैसी बात होती है कि एक व्यक्ति सभा मे गया और बोला कि मैं बहुत दुःखी हू । सभासदो ने पूछा—तुम्हे किस बात का दुःख है ? वह बोला—क्या करू—मेरी मां बध्या याने बाझ है—इसका मुझे बहुत दुःख है । अब ऐसे व्यक्ति से पूछा जाय कि तू अपने अस्तित्व का प्रतिपादन भी करता है, अपनी मा का होना भी मानता है कौर मां को बाझ बताता है—यह कैसी बात है ? बांझ के सन्तान पैदा होती नही है और वह अपने अस्तित्व से मां का सन्तानवती होना सिद्ध कर रहा है याने कि वह अपने मुह से ही अपनी बात का खंडन कर रहा है ।

उस बाझ मा के बेटे की तरह आज का भौतिकवादी भी अपने ही मुंह से अपनी बात का खडन करता है । अपने को 'मैं' मानता है—याने कि आत्मा का अस्तित्व अपने आचरण से स्वीकार करता है लेकिन मुह से कहता है कि आत्मा और परमात्मा मे विश्वास नही करता हू । यह अपने प्रति विश्वास की कमी का लक्षण है । अपने मे विश्वास रखकर भला कोई व्यक्ति आध्यात्मिक उन्नति कैसे कर सकता है ? आत्मा जो तथ्य रूप अपने ही भीतर बोल रही है, उसके प्रति जितना अटूट और दृढ विश्वास होगा, वही व्यक्ति अपने जीवन का सही विकास साध सकेगा । आत्म-विश्वास दृढ होगा तभी पुरुषार्थ नियोजित किया जा सकेगा और पुरुषार्थ से ही मिथ्यात्व का विनाश हो सकेगा ।

अपने वचनो से ही अपने अस्तित्व को नही नकारें तथा अपनी बात को खंडित नही करें—इतना विवेक का दीपक भी यदि मनुष्य के मस्तिष्क मे प्रज्वलित हो जाता है तो वह कर्मों के बधनो के प्रधान निमित्त कारण मिथ्यात्व को हटाने मे अपने पुरुषार्थ को लगा देगा । आत्मा को निर्विकार बनाने के सम्बन्ध मे वीतराग के वचन अमृततुल्य होकर अनुकरणीय हैं । वे राग-द्वेष या काम-क्रोध के विकारो से रहित हैं । जो कुछ भव्य प्राणियो के लिये उन्होने कहा है, वह स्वतत्र समभाव की मात्रा से और निर्लिप्त भाव से कहा गया है । जो भी वस्तु स्वरूप उन्होने बताया है, उसे उन्होने अपने अनन्त ज्ञान मे पहले देखा और फिर सहज भाव से बताया । सोचें कि एक पिता एम ए.

की डिग्री लेकर चल रहा है, वह अपने ज्ञान की बात अपने पांच वर्ष के पुत्र को समझायगा तो क्या वह समझ जायगा ? पुत्र न भी समझे तब भी उसका अपने पिता मे विश्वास होता है और इसलिये उनकी बात में भी विश्वास होता है, इसलिये पिता की बात वह कहीं नहीं भी समझता है तब भी हितावह विश्वास के कारण वह उनकी बात का पालन भी करता है। वह न समझी जा सकने वाली पिता की बात को बाद में समझ लेने की आशा रखता है। जैसे वह बच्चा अपने पिता का विश्वास करता है, वैसा ही विश्वास वीतराग वचनों के प्रति होना चाहिये और जो वह विश्वास है, वही आत्मा और पर-मात्मा के प्रति विश्वास होता है।

जीवन मे यदि आध्यात्मिक विकास करना है तो वीतराग वचनो के अनुरूप पूर्ण आत्म-विश्वास के साथ पुरुषार्थ करें तो मिथ्यात्व का विनाश किया जा सकता है। और मिथ्यात्व जैसा बड़ा खंभा ही गिर जायगा तो बाकी के चार खंभों को गिराने में उतने कठिन पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं रहेगी।

आध्यात्मिक जीवन को तोलते रहें, आत्मा का भार हल्का होता रहेगा :

भौतिकवादी विज्ञान के प्रभाव से अभी तक सामान्य रूप से बुद्धि का ऐसा विकास नहीं हुआ है कि आध्यात्मिक क्षेत्र मे साधनारत लोगों के जीवन को भलीभांति नाप सकें। इस क्षेत्र के बारे मे यह नहीं सोचें कि यह आधुनिक विज्ञान से सिद्ध नही हो रहा है तो इसको कैसे मान लें ? आधुनिक यन्त्र तो बाहरी साधन हैं, उससे आध्यात्मिक जीवन को नहीं नाप सकते हैं। आध्यात्मिक जीवन को नापने और तोलने की दृष्टियां कुछ दूसरी ही होती हैं, जिन्हें समझें, अपने ज्ञान नेत्रों का विकास करें तब कर्मों के लेप कम होते हैं, आत्मा का भार घटता है और हल्की बन कर वह अधिक उज्ज्वल और अधिक ऊर्ध्वगामी बनती है। ज्यों-ज्यों अपने आध्यात्मिक जीवन की समीक्षा करते रहेंगे—उसकी दुर्बलताएं दूर करते हुए उसको आगे बढ़ाते रहेंगे, त्यों-त्यों आत्मा का कर्मों का लेप रूप भार हल्का होता रहेगा।

आध्यात्मिक जीवन को नापना और तोलना कैसे ? बाहरी नाप के कांटे भी भिन्न-भिन्न होते है। कपड़े नापने का गज या मीटर होता है तो अनाज वगैरा तोलने के किलो आदि के बाट होते हैं। सोने चांदी का बारीक कांटा अलग होता है और वैज्ञानिक नाप तोल के यन्त्र अलग ही होते हैं। क्या एक तरह के नापक से दूसरे पदार्थ को नापा या तोला जा सकता है ? क्या

अनाज को मीटर से माप सकेंगे और कपड़े को बाट से तोलेंगे ? इसी प्रकार आध्यात्मिक जीवन के माप-तौल का अलग ही कांटा होता है। आप हर आत्मा को तोलने के लिये अनाज के काटे से तोलना चाहें तो क्या उसके स्वरूप को देख पायेंगे ? आध्यात्मिक जीवन का तथा आत्मिक-स्वरूप का माप-तौल आध्यात्मिक-दृष्टि से ही हो सकेगा जिसका विकास वीतराग वाणी के प्रति अखंड विश्वास रख कर किया जाता है। ऐसी आलोचक दृष्टि इसी आत्मा के ज्ञान और विश्वास से इसी आत्मा की आन्तरिकता में प्रकट होती है। वह दृष्टि ही निर्णायक दृष्टि होती है कि आध्यात्मिक जीवन का स्तर कहां चल रहा है और उसमें किस रूप से विकास की अपेक्षा है ?

हलुकर्मी आत्मा ही उर्ध्वगामी बनती है :

वैसे तो आप लोग आध्यात्मिक बातों को समझने की कोशिश करते हैं और श्रद्धा भी रखते हैं, लेकिन इतने ही से मिथ्यात्व का लेप हट नहीं जाता है। इस से कुछ सीमित अवश्य हो जाता है लेकिन आगे का कारण समझना और उसको मिटा कर सम्यक्त्व का प्रकाश फैलाना—यह आत्मा के दृढ़ सकल्प से ही बन सकता है।

आपने तूंबी देखी होगी जो बावा लोग काम मे लेते हैं। यह बड़ी हल्की होती है और पानी के ऊपर तैरती है। इस तूंबी पर अगर लेप पर लेप चढाते जावें और उसके भार को बढ़ाते जावें तो वह फिर तैर नहीं सकेगी और उसका सही उपयोग भी सभव नहीं रहेगा। इस तूंबी की तरह ही आत्मा का स्वरूप हल्का याने हलुकर्मी होता है किन्तु जब इस स्वरूप पर मिथ्यात्व का मोटा लेप चढता है, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग के लेप चढ़ते हैं तथा इनके निमित्त से कर्म-बंधन के गाढे लेप चढते हैं तो आत्मा का भार इतना बढ जाता है कि यह नीचे से नीचे उतरती रहती है और दलदल में फंसती रहती है जहा से उसका वापिस निकल कर ऊपर आना भी अत्यन्त दुष्कर हो जाता है। इन लेपों को इस दृष्टि से सम्यक् साधना से मिटाना पड़ेगा और जितना यह आत्मा का भार मिटेगा, उतनी ही उन्नति की संभावनाएं प्रबल बनेंगी, क्योंकि हलुकर्मी आत्मा ही उर्ध्वगामी बनती है।

गंगाशहर-भीनासर
२५-८-७७

आत्मा और शरीर पिंड

अब प्रभु जिन तुज मुज आतम रे........

इस नाशवान शरीर पिंड के भीतर जिस अविनाशी पवित्रतत्व के अनुभव का प्रसंग है, वह कितना मननीय तथा आनन्ददायक है—इसका चिन्तन शरीरस्थ आत्माओं को करना चाहिये। इस चिन्तन के साथ-साथ उनका ध्यान इस शरीर पिंड से हटना चाहिये और अपना ध्यान आत्मा के निज-स्वरूप को देखने पर केन्द्रित हो जाना चाहिये। यदि शरीर का ध्यान ही किया जाता है तो उसमें स्थिरता नहीं आ सकती है। जैसे-जैसे शरीर जीर्ण होगा, नष्ट होगा या परिवर्तित होगा, वैसे-वैसे उस शरीराश्रयी आत्मा की पर्यायो का भी ह्रास होता जायगा।

शरीर पिंड मात्र में जो ध्यान देता है, वह अपनी आत्मा को भूलता है, लेकिन जो आत्मा के प्रति अपने ध्यान को केन्द्रित बनाता है, वह शरीर पिंड को भूलता नहीं है, बल्कि आध्यात्मिक साधना में शरीर पिंड का सदुपयोग करता है। शरीर पिंड द्वारा धर्म-साधना को पुष्ट बनाकर वह आत्मा की उज्ज्वलता को प्राप्त करता है। उससे उसकी आत्म-शक्तियां पवित्र बन जाती हैं तथा जीवन में वे परम दृढ़ता के साथ कार्य करती हैं।

संसार में आत्मा का निवास शरीर पिंड में ही :

यह तथ्य है कि इस संसार में सारी की सारी आत्माएं अपने-अपने शरीर पिंड में ही निवास करती हैं। किसी भी आत्मा का स्वरूप बिना शरीर पिंड के नहीं मिलता है। शरीर पिंड में रहती हुई ही आत्मा संसार के समस्त कार्य करती है। जिस शरीर में वह रहती है, उस शरीर का संचालन भी आत्मा ही करती है तथा आत्मा ही परिवार तथा समाज की समस्याओं का समाधान करती है। इसी रूप में आत्मा का ही संचालन केन्द्र राष्ट्र और

विश्व में ही रहता है। इस आत्मा ने इस शरीर पिंड के साथ सम्पर्क किया तब से अपने शुद्ध-स्वरूप में चले तो आत्मा का ही वर्चस्व सब ओर दिखाई देगा।

एक स्वाभाविक प्रश्न पैदा होता है कि ऐसी चेतन स्वरूप आत्मा का इस शरीर पिंड के साथ रहने का प्रसग कब से आया ? क्या किसी रोज यह आत्मा शुद्ध थी और किसी कारण से शरीर पिंड और कर्मों से अलग थी? यदि इस को बाद मे अशुद्ध बनना पडा तो यह क्यो, कब और कैसे अशुद्ध हुई ? इस तरह इस विषय मे बहुतेरे प्रश्न खडे होते हैं।

ज्ञानीजनों का कथन है कि यह आत्मा अनादिकाल से इस शरीर पिंड के साथ सम्बद्ध है। विविध प्रकार के शरीरों से लगी हुई रहती आई है। जब तक मनुष्य के शरीर मे है तब तक मनुष्य के साथ लगी हुई है। जब देव का शरीर मिलेगा तो उसमे चली जायगी और पशु योनि में जाने का प्रसंग आया तो पशु का शरीर धारण कर लेगी। नरक मे जायगी तो नरक की नेरिया बन जायगी। लेकिन जब तक सम्पूर्ण रूप से इसको कर्मों से छुटकारा नही मिलेगा तब तक किसी न किसी शरीर पिंड के साथ इस आत्मा को सम्बद्ध रहना पडेगा। यह शरीर पिंड इस आत्मा के लिये कर्मों का बीज भी है तो कर्मों का फल भी है। कर्म-बन्धन की विचित्रताओ से ही शरीरो की विविधता प्राप्त होती है तथा आत्मा का स्वरूप और निर्मल स्वरूप भी कर्मों के आवरणो से आच्छादित हो जाता है।

कर्म-बन्धन दोनो प्रकार के होते हैं—शुभ और अशुभ। उनमें जब शुभता का बाहुल्य रहता है तो श्रेष्ठ शरीर मिलते हैं अन्यथा निम्न शरीरों की प्राप्ति होती है। कर्म रज याने कि कर्म का सयोग शरीर के सयोग से जुडता है और शरीर के संयोग से पुनः कर्म का उपार्जन पुण्य तथा पाप रूप मे होता है, जिससे पुन. आगे शरीर धारण करने का निर्धारण हो जाता है। यह एक चक्र के मानिन्द है और यह आत्मा जन्म-मरण के इसी चक्र मे उलझ गई है। इस उलझन में वह अपनी पवित्र शक्ति को विसार गई है।

आत्मा और शरीर पिंड का यह सम्बन्ध अनादि है लेकिन अनन्त नहीं है। इस सम्बन्ध का जो अन्त है, वही मोक्ष है। चेतन आत्मा जब सम्पूर्ण कर्म क्षय करके जड तत्व से सर्वथा विलग हो जाती है, तभी वह सदा काल के लिये मुक्त हो जाती है।

आत्मा और शरीर का सम्बन्ध: आत्मा की तद्‌जनित वृत्तियां

यदि यह कल्पना की जाय कि यह आत्मा एक रोज शुद्ध थी और बाद

में अशुद्ध बन गई तो इस कल्पना के साथ कई तरह के प्रश्न जुड़ जायेंगे। जब यह पहले शुद्ध थी तो बाद में अशुद्ध क्यों बनी? जिस व्यक्ति का शरीर तन्दुरुस्त है तो वह क्या उसको रोगों से बचाने का प्रयास नहीं करेगा? फिर आत्मा ने अपने आपको अशुद्ध क्यों होने दी? यह आत्मा तो चेतन-स्वरूप है और शुद्ध-चेतन स्वरूप थी, फिर अशुद्धता लाने की असावधानी क्यों कर गई? इसलिये ज्ञानीजनों ने यही कथन किया है कि यह आत्मा जड़तत्वों से अनादिकाल से सम्बन्धित है और अनादिकाल से ही पूर्ण शुद्ध-अवस्था से विहीन है। यह आत्मा अभी भी अपने शुद्ध-स्वरूप की सावधानी में नहीं आई।

संसार में आत्मा सदा असावधान रही है और इस असावधानी के कारण उसने अपने समीप में जड़ तत्वों को एकत्रित किया तथा उनका आश्रय लिया। यह आत्मा इस लौकिक संसार में रहती और परिभ्रमण करती है। अपनी अज्ञान दशा में वह जड़ तत्वों को ही अच्छा समझती रही है। इसी अज्ञान दशा के कारण यह आत्मा जो वस्तु जैसी नहीं है उसको उस रूप में समझती रही है अर्थात् सही वस्तु-स्वरूप को देखने का पुष्ट दृष्टिकोण इस आत्मा का नहीं बन पाया है। वह यह नहीं समझती कि मेरा शरीर चाहे कितना ही कमनीय, कोमल और सुन्दर हो—एक दिन नष्ट होने वाला है, सदा काल आत्मा के साथ यही शरीर सम्बद्ध रहने वाला नहीं है। फिर भी वह अपना सारा ध्यान इस शरीर के प्रति केन्द्रित करके चलती है।

मनुष्य को अपना शरीर उसी रूप में सर्वाधिकप्रिय लगता है, जिस रूप में एक बालक खिलौने को चाहता है। बच्चा अपने प्रिय खिलौने को देखता है तो उसे अपने शरीर से भी ज्यादा समझता है। खिलौने के पीछे शरीर को कोई क्षति पहुंचती हो तो उसकी भी वह परवाह नहीं करता है। खिलौना ही उस बच्चे का सब कुछ होता है। ऐसे बच्चे को जब बड़ा व्यक्ति देखता है तो वह सोचता है कि यह बच्चा बड़ा नादान है। कितना अच्छा शरीर इसका है जिसकी इसको परवाह नहीं है और खिलौने के पीछे यह बच्चा अपने इस शरीर को दौड़ाता, घुमाता और गिराता है। यह बात बड़ा व्यक्ति देखता है, लेकिन इसको बच्चा नहीं देख सकता है। वह खिलौने की तरफ इतना मुग्ध और आसक्त बना रहता है कि कोई उसके खिलौने के हाथ भी लगाने की चेष्टा करे तो वह रोता है और झपटे करता है।

के कारण एक खिलौने के पीछे अपने शरीर का भान भी भूल जाता है, वैसे ही क्या आप भी इस शरीररूपी खिलौने के पीछे अपनी चैतन्य आत्मा का ध्यान नही भूले हुए हैं ? जैसे खिलौना टूट जाता है,—वैसे ही शरीर भी एक दिन छूट जाता है, फिर मनुष्य इस शरीर मे मुग्ध और आसक्त बन कर अपनी सर्वशक्तिशालिनी आत्मा को भूला हुआ रहे तो उसकी क्या यह नादानी नहीं है ? इसका कारण है कि उसमे अपने स्वरूप को जानने की शक्ति पैदा नहीं हुई है, इसलिये ससारी पदार्थ ही उसको अच्छे लगते हैं और जड पदार्थों से ही वह मोह रखता है।

आत्मा स्वयं चैतन्य स्वरूपी होती है और इन सासारिक जड पदार्थों को दार्शनिक परिभाषा मे माया कहा जाता है। जब आत्मा निज–स्वरूप से विस्मृत होती है तो वह मायाग्रस्त होती है। मायाग्रस्तता के कारण न तो अपने स्वरूप को पहिचान पाती है और न जड पदार्थों के मोह से दूर होती है। शरीर रूपी जड़ पदार्थ से सम्बन्धित बनकर यह आत्मा जड़ पदार्थों की माया मे रम जाती है तथा तद् जनित वृत्तियों में लीन हो जाती है।

आत्मा की मायाग्रस्त वृत्तियां; मिथ्या दर्शन का प्रसंग :

ससार मे दो तत्व हैं—चेतन और जड। इन्ही दोनों तत्वों को कोई ब्रह्म और माया कह कर पुकारते हैं तो कोई पुरुष और प्रकृति कहते हैं। संसार का कोई भी दर्शन इनके बिना अपने सिद्धान्तों की व्याख्या नहीं कर सकता है। इन दोनो तत्वो को समझे बिना वर्तमान जीवन की समस्याओं का समाधान भी नहीं निकाला जा सकता है। इन दोनो तत्वों का स्वभाव भिन्न–भिन्न है। जड तत्व एक दम ज्ञान शून्य होता है—कुछ नहीं समझता है तो चेतन तत्व सब कुछ समझता हुआ अनन्त ज्ञान का स्वामी बन सकता है। लेकिन आश्चर्य इस बात का है कि जो तत्व सब कुछ समझता है, वह अपनी सारी समझ को उस तत्व के अधीन रखकर चल रहा है जो तत्व कुछ नही समझता है। यही मायाग्रस्तता है, यही अज्ञान है और यही मिथ्या दर्शन का प्रसंग है। इस मिथ्यात्व का प्रसग इस आत्मा के साथ अनादिकाल से लगा हुआ है और इसीलिये इस चेतन का सम्बन्ध जड के साथ अनादिकाल से जुडा हुआ है।

यदि यह आत्मा अपने आप की स्थिति में शुद्ध होती तो उसकी ऐसी दशा कभी नही बनती। इसलिये यही कहा जाता है कि आत्मा अनादि-काल से अशुद्ध है। इसका स्वरूप प्रकट करने के लिये ज्ञानीजनो ने कुछ रूपक दिये हैं, उनको आप एक देशीय रूप से लें, सर्वांग रूप से नहीं लें। इस प्रार्थना

की ढालियों में भी इसका संकेत दिया गया है—

कनकोपलवत् यहि पुरुष तणी रे,
जोडी अनादि स्वभाव ।
अन्य संजोगी जिहा लगे आतमारे
संसारी कहेवाय ॥

कनक आप जानते है, स्वर्ण या सोने को कहते हैं। जिस स्वर्ण को संसारी व्यक्ति अत्यधिक मोह के साथ देखता है, उसके साथ अपने प्रेम को जोड़ता है, क्या स्वर्ण में अपने तईं कोई प्रेम है ? स्वर्ण तो जड तत्व है, किन्तु चेतन आत्मा अपने प्रेम को स्वर्ण पर उडेलती है। वह स्वर्ण कहाँ से आया ? वह पृथ्वी पिंड से आता है—जमीन के भीतर खदानो से निकाला जाता है। वह सोना जिसको आत्मा प्रेम की नजर मे देखती है, एक रोज मिट्टी में मिला हुआ था—इसके कण पत्थरो मे जमे हुए थे। यह सोना कब से मिट्टी और पत्थरो के साथ रहा हुआ था—इसका व्यापारी और स्वर्णकार कोई निर्णय नहीं दे सकता है। वैसे ही आत्मा कर्म-रूपी मिट्टी-पत्थर में जकड़ी हुई चली आ रही है।

नहीं ? आप नहीं मानेंगे लेकिन आज का वैज्ञानिक अनुसंधान आपको यह मानने के लिये बाध्य कर देगा। गाय या भैंस का दूध कहां से आया ? घास या बांटा खाने से और घास कहा से आया ? घास क्या मिट्टी से नही आया ? यदि मिट्टी मे घी नही था तो घास मे कैसे आता और घास मे नही था तो दूध मे कहां से आता ? दूध मे से घी निकालने के लिये एक प्रक्रिया करनी पडती है। यह प्रक्रिया नहीं करे तो घी हाथ नही आ सकता है।

अब प्रश्न पैदा होता है कि यह घी मिट्टी मे कब से मिला हुआ था ? इसका निर्णय यह होगा कि मिट्टी मे स्वाभाविक तौर से चिकनास होता है, जो घी का मूल है। यही वनस्पति में फल-फूल के रूप मे प्रकट होता है। इसी मिट्टी से घास पैदा होता है, घास भैंस या गाय के पेट मे जाता है और दूध बन जाता है। यद्यपि वह मिट्टी में अनादिकाल से रहा हुआ है, लेकिन रासायनिक प्रक्रिया से अलग हो जाता है। कहा तो मिट्टी और कहा घी ? ऐसे किसी घी के बदले मे मिट्टी खाने के लिये कहे तो कौन खायगा ? कुछ लोग आदत वश मिट्टी खाते भी हैं। आदत के अधीन मनुष्य क्या नही करता ? आदत के अधीन होकर वह नाना प्रकार से कीटाणुओ को और कैंसर तक के कीटाणुओं को अपने शरीर मे डाल लेता है। यह आदत का ही कुप्रभाव है कि जिस तम्बाकू, बीडी, सिगरेट को पशु भी नहीं सूंघता, उसको मनुष्य काम मे लेता है।

यह आत्म-ज्ञान के अविकास की स्थिति है। मिट्टी मे घी है लेकिन मिट्टी घी नही है, उसी तरह आत्मा मे अनन्त ज्ञान है लेकिन आत्मा का जो वर्तमान स्वरूप है वह ज्ञानपूर्ण नही है। वर्तमान दशा मे आत्मा अज्ञान बनी हुई है। जब तक साधना की प्रक्रियाएं नही की जाती है, आत्म-ज्ञान का विकास संभव नहीं होता है। आत्म-ज्ञान का विकास होता है तभी उसमे निर्णायक शक्ति पनपती है। एक ज्ञानी आत्मा ही जीवन की विविध समस्याओ पर समुचित निर्णय लेने मे समर्थ होती है। आत्म-ज्ञान के उच्चतर विकास के साथ उसकी निर्णायक शक्ति अधिक पुष्ट भी बन जाती है।

आत्मा के अज्ञान के फलस्वरूप ही मनुष्य कैंसर की बीमारी पैदा करने वाली तम्बाकू, बीडी, सिगरेट आदि का उपयोग करता है। जन्मते वक्त ऐसा व्यसन नहीं था, बाद मे बुराई के रूप में ही यह व्यसन ग्रहण किया। मनुष्य अज्ञानवश अपने शरीर के मोह मे रहता है लेकिन इन व्यसनो के पीछे शरीर को भी सुरक्षित नही रख पाता है तो ऐसा अज्ञानी मनुष्य भला इस

बेभान देह को कैसे सुरक्षित रख सकेगा ? आप कहेंगे कि आत्मा ज्ञानी है, विचारक शक्ति रखने वाली है, स्वयं समझती है तो फिर ऐसा काम क्यों करती है ? इसमें से गलत-गलत आदतें बनाई जाती हैं । आत्मा की बात को ठुकरा कर और पुद्गलों को पकड़ लेते हैं तब शरीर को भी बिगाड़ बैठते हैं । जैसे नशे में शरीर का ख्याल नहीं रहता, वैसी ही स्थिति आत्मा की है । उसने अनादिकाल से जड़ तत्वों के साथ रहने की अपनी आदत बना ली है । पुद्गलों के साथ जड़ मोह के नशे में वह बेभान है । इस बेभानी में वह पाप कार्य करती है, इससे हुए पाप कर्मों का बंध करती है तथा धर्म करने की ओर आकर्षित नहीं होती है । यह ज्ञान के अभाव में होता है, इसलिये आत्म-ज्ञान का विकास किया जाना चाहिये ।

जड़ तत्वों का संयोग, आत्मा की सबसे बड़ी विडम्बना :

चाहे शरीर पिंड हो अथवा अन्य पदार्थ—यह जड़ तत्वों का संयोग ही इस आत्मा की सबसे बड़ी विडम्बना है । आत्मा की वर्तमान दशा में इन जड़ तत्वों का बड़ा गहरा प्रभाव है । शुभ भाव में आकर कोई त्याग प्रत्याख्यान कर लिया जाता है तो बाद में मनुष्य पश्चाताप करने लग जाता है कि यह त्याग मैंने क्यों कर लिया ? यह त्याग नहीं करता तो अच्छा रहता । यह सारा जड़ संयोग की प्रबल प्रभावशीलता के कारण वह त्याग के लिये तो पश्चाताप करता है, लेकिन विकारों को ग्रहण करने के लिये—सांसारिक भोगों का सेवन करने के लिये उसके मन में कोई पश्चात्ताप नहीं होता—यह विडम्बना नहीं तो और क्या है ?

में रखते हो, सम्हालने में चिन्ता करते हो और गुम जावे तो हाय-विलाप करते हो—सोना, चांदी, जवाहरात, सिक्के—ये सब मिट्टी के खिलौने ही तो हैं। भूतकाल मे इनकी पर्याय मिट्टी की थी, वर्तमान मे भी मिट्टी की पर्याय इनमे समाविष्ट है और भविष्य मे भी यही पर्याय इनको प्राप्त होगी। लेकिन इस तत्व का ज्ञान कम है और ऐसे ज्ञान के प्रति रुचि भी कम है। यह भी जड तत्वो का ही असर है।

आप भी क्या करें, सम्पूर्ण वातावरण मे जड-तत्वो का असर छाया हुआ है। परिवार, राष्ट्र और समाज का निर्वाह इन सिक्को के वगैर नही होता, इसलिये इनका सचय करता है, लेकिन इनको सिर पर मत चढाइये—इन्ही को सब कुछ मत मानिये। जहा तक इनका उपयोग है, वह करिये, लेकिन आत्मा के स्वरूप को समझिये और उसको सर्वोपरि मानिये। आत्मा की इस विड-म्बना को समाप्त करिये।

निज-स्वभाव में स्थित होकर ही आत्मा उन्नति कर सकेगी :

पर-स्वभाव मे याने कि जड तत्वो के मोह मे उलझी हुई यह आत्मा जब निज-स्वभाव मे स्थित होगी, तभी वह उन्नति कर सकेगी और अपने स्व-रूप को शुद्ध बना सकेगी, क्योंकि सजातीय तत्वो से ही सजातीय का सुधार होता है। आत्मा इन जड तत्वो से हटकर पवित्र बनने के मार्ग पर आगे बढे ऐसा प्रयत्न करना है। गेहू, बाजरा या ज्वार के बीज जमीन मे बोये जाते हैं तो बीज पहले क्या करता है ? पहले वह मिट्टी के साथ मिल जाता है लेकिन सावधानी रखता है। मिट्टी के साथ मिल कर मिट्टी का रस खीचता और एक से अनेक बीज पैदा करता है। वैसे ही जिस आत्मा मे निज-स्वभाव को ग्रहण करने के प्रति जागृति आ जाती है, वह शरीर के उपयोग तथा उसके कार्यों मे भी परिवर्तन ले आती है।

आत्मा पहले विभाव के वश मे होकर शरीर के स्वभाव मे चल रही थी। शरीर जड तत्वो से बना होता है। सजातीय, सजातीय के साथ जाता है और इसलिये शरीर ससार के पौद्गलिक पदार्थों के प्रति आकर्षित होता था तो आत्मा भी शरीर के पीछे दौडती थी। आत्मा को यदि अपने स्वभाव का भान होता तो स्वय भी अपने स्वभाव के अनुसार चलती तथा शरीर को भी उसी तरह चलाती, लेकिन उसने अपना स्वरूप दबा दिया और जड तत्वो के स्वरूप को पकड लिया तो यह उसके विभाव की अवस्था हो गई। विभाव का अर्थ है पर-स्वभाव। आत्मा स्वय जड नही होते हुए भी जो जड का

भी युक्ति बैठा ली। पर्याय की दृष्टि से यह शरीर पहले मिट्टी का रूप था, उसको आत्मा की विशिष्ट शक्ति प्राप्त हो गई तो वह मिट्टी का रूप भी एक उपयोगी आकार बन गया। जिस विशिष्ट शक्ति के कारण वह उपयोगी बना तो उसका समूचा उपयोग उस विशिष्ट शक्ति के लिये ही होना चाहिये।

एक जागृत आत्मा जब साधना करने का संकल्प लेगी तो वह संकल्प शरीर की सहायता से ही पूर्ण हो सकेगा। साधना करने की कोशिश होगी तो शरीर के माध्यम से ही हो सकेगी, बल्कि आत्मा बहिरात्मा से अन्तरात्मा बनेगी तो इसी शरीर में रहती हुई तथा इसी शरीर मे रहती हुई वह अन्तरात्मा से परमात्मा भी बन सकती है। इसीलिये शरीर का प्रयोग आत्मा को परमात्मा बनाने मे हो जाय तो इससे बढ़कर शरीर की और क्या सार्थकता होगी?

संचालक के महत्व को आप समझते होंगे। एक कार मशीन के रूप मे पूरी तरह जड होती है। उसको एक व्यक्ति चेतन रूप होकर चलाता है। कार का उसका पूरा संचालन होता है तो उसको वह चाहे जिस गति से ले जाता है—चाहे वहां मोडता और घुमाता है तथा चाहे जितनी दूरी उसकी सहायता से पार कर लेता है। उसी रूप मे शरीर तो मात्र एक वाहन है—कार के समान है। आत्मा संचालक होकर ड्राइवर है। अब वह आत्मा जागृति की अवस्था मे अपने दृढ सचालन के साथ शरीर को धर्म साधना का साधन बनाती है तो आत्मा और परमात्मा के बीच की जो दूरी है; उसको आत्मा शरीर की सहायता से पार कर लेती है और इस शरीर मे ही परमात्म-स्वरूप का प्रकटीकरण हो जाता है। केवल सचालन का अन्तर मानना चाहिये, वरना यही शरीर पिंड जो आत्मा को विषय भोग मे लिप्त बनाता है, आत्मा को उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर भी पहुंचा देता है। सचालन की अक्षमता भी आत्मा का दोष है। कार को दुर्घटना ग्रस्त बनाता है या उसको गलत रास्तो पर दौडाता है तो ड्राइवर का ही दोष होगा। चेतन तत्व अगर प्रबुद्ध और सन्नद्ध बन जाय तो वह शरीर पिंड का भी पूर्ण सदुपयोग कर सकता है। शरीर पिंडो में भी मानव का शरीर पिंड सर्वाधिक महत्ताशाली इसी कारण माना गया है कि इसकी सहायता से मोक्ष तक की सफल साधना की जा सकती है।

आत्मा को निर्णायक बनाइये, शरीर पिंड का सदुपयोग कीजिये :

यह मानव शरीर पिंड जो मिला है, इसका सदुपयोग करके पर-

पाप कार्यों की सीमा बांधिये

पद्म प्रभु जिन तुज मुज आंतरू रे.......

प्रार्थना के माध्यम से इस जीवन की विशेष चर्चा का प्रसग चल रहा है। जो लक्ष्य ससार मे अत्यन्त कठिन माना जाता है, भव्य जन उसी को सम्मुख लेकर चलते हैं और उनके द्वारा ऐसा करने से उनकी आत्मा की आन्तरिक जागृति होती है।

जिस आत्मा को थोडा सा भी ज्ञान और भान हो जाता है कि मैं दरिद्र नही हू, महान् पुण्यशाली और ज्ञानवान हू तो वह हीन भावना से मुक्त होने लगती है। वह विचार करने लगती है कि मेरे अपने अन्त,करण की गहराई में ही भाव रूपी घन के चरू गडे हुए हैं। वे चरू अभी दिखाई नही दे रहे हैं, लेकिन उनके लिये अगर डट कर पुरुषार्थ करू' तो वे चरू बाहर आ सकते हैं। वे अमृतमय भाव जब बाहर आते हैं तो उन्ही भावों से आत्मा का महान् गौरव प्रकट होता है।

अपने सामर्थ्य का ज्ञान हो जाने पर यह आत्मा सबसे पहले अपने द्वारा किये जाने वाले पाप कार्यों की सीमा बांध लेती है तथा व्यर्थ के पाप कार्यों का निरोध कर लेती है। पाप कर्मों के आगमन को वह रोक लेती है तथा संयुक्त पाप कर्मों के क्षय के लिये पुरुषार्थ प्रारभ कर देती है। इसका सुफल यह मिलता है कि उसको अपनी ही दबी हुई निधियां प्राप्त हो जाती हैं।

भव्य आत्मा हीन भावना छोड़े,
अपनी अनन्त शक्ति का आभास ले :

भव्य आत्माए अपने भीतर छिपी हुई अनन्त शक्तियो का उद्घाटन कर सकती हैं, लेकिन उससे पहले उन्हे अपनी हीन भावना का त्याग कर देना चाहिये। वे जब अपनी शक्ति को दुर्बल महसूस करती हैं तो वे अपने आप में हीन दशा का अनुभव करने लगती हैं। यह हीन भावना छोड़ने पर

मन में अनेकानेक चिन्ताएं, व्यर्थ का बोझ लादने की आदत :

इस आत्मा को व्यर्थ का बोझ लादने की आदत हो रही है। वह अपने मन मे अनेकानेक चिन्ताए लेकर के चलती है और इन चिन्ताओ को कई बार वह अपनी शक्ति का आभास पा जाने के बाद भी नही छोडती है। जब व्यक्ति को गेहूं मिल जाय और उसके बाद भी वह गेहू के भूसे के लिये चिल्लाता फिरे तो उस चिन्ता के लिये क्या कहना ? भूसा मिले तो क्या और नहीं मिले तो क्या ? इसी प्रकार जिस आत्मा को अपनी आध्यात्मिक शक्ति का आभास मिल जाय और परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान हो जाय तथा वह अनुभव करने लगे कि मैं प्रभु के तुल्य हू तो फिर ससार के रिश्ते आएं तो क्या और जाए तो क्या ? यह ससार का चक्कर है, आता–जाता रहेगा। जिस के साथ जितना सयोग होता है, उतना ही वह सम्बन्धी साथ मे रहता है और इस विचार से परिवार का कोई तरुण सदस्य भी चला जाता है, तब उसके पीछे इतना आर्तध्यान–रौद्रध्यान नहीं किया जाना चाहिये। कदाचित् जिस सम्पत्ति को आप अपने प्राणो से भी अधिक प्रिय मान रहे हैं, वही इधर–उधर हो जावे तो उसके पीछे भी क्या सन्ताप करेंगे ? वही आत्मा इस प्रकार के सन्ताप से छुटकारा पा सकती है जिस आत्मा ने मिथ्यात्व को समूल नष्ट कर देने का यत्न शुरू कर दिया है। जो आत्मा मिथ्यात्व के मूल को हटाने का प्रयास करती है, वह सम्यक्त्व के प्रति प्रगाढ श्रद्धा लेकर चलती है और शुद्ध सम्यक्त्व की प्राप्ति करती हैं। सम्यक्त्व के प्रति उसकी श्रद्धा इतनी प्रगाढ होती है कि चाहे सारी दुनिया उथल–पुथल हो जावे, उसकी उस श्रद्धा मे तनिक भी विचलितता नहीं आती है। ऐसी आत्मा ही अपने स्वरूप को— अपनी शक्ति को, प्राप्त करने के लिये आगे चरण बढाती है।

ऐसी सम्यक्त्वी आत्मा ससार के सारे पदार्थो का बोझ अपने सिर पर लाद कर नही रखती है तथा अनेकानेक चिन्ताओं से अपने मन को आकुल-व्याकुल नही बनाती है। अभी आप यहा पर बैठे हुए हैं तो आपका मस्तिष्क हल्का है या भारी ? कोई बतलायेंगे क्या ? आप कहेगे कि हल्का है। जब हल्का मस्तिष्क होता है तो कोई भी काम जल्दी बनता है। अभी आपके मस्तिष्क मे तिजोरी का भार तो नही है ? बैठे तो यहा पर है, लेकिन हो सकता है कि मन तिजोरी के माल को बढाने की चिन्ता मे लगा हुआ हो या अपनी कन्या के सम्बन्ध के विषय मे चिन्तित हो तो मस्तिष्क मे भारीपन बना रहता है। कई समस्याए तो ऐसी होती हैं जिनका सामाजिक रूप से आप सही समाधान नही निकालते हैं और वैसी समस्याए भी आपके मस्तिष्क को

हल्का रखने की जरूरत है।

इसका निर्णय प्रत्येक मनुष्य को करना है कि वह अपने वर्तमान जीवन मे मन को चिन्ताओ से मुक्त तथा शरीर को बीमारियो से स्वस्थ रखना चाहता है अथवा इस जीवन को चिन्ताओ तथा बीमारियो से पीडित रखना चाहता है। यह ससार का वैभव, सम्पत्ति, परिवार, स्त्री, पुत्र आदि सब यहीं छूट जाने वाले हैं—साथ मे चलने वाले नहीं हैं। इस दुनिया मे अनेक व्यक्ति आये—राजा महाराजा भी आये और उन्होने बडे-बडे आक्रमण किये, लूट-पाट मचाई तथा अपनी रक्षा के लिये बडे-बडे किले व भवन भी बनाये लेकिन जब उनकी मौत आई तो सब कुछ यही रह गया। वे जाते समय सिर्फ पापो की पोटली अपने साथ ले गये। वे उन पाप कर्मों के कारण मनुष्य-जीवन को निरर्थक कर गये और आगे भी पशु या नीच योनि मे गये होगे। ये सारी बातें सामने होते हुए भी मनुष्य अपने मन को हल्का बनाने की कोशिश नहीं करता है—यह चिन्तनीय विषय है।

कहने को तो लोग यह कहते हैं कि महाराज जो उपदेश देते हैं, वह परलोक के लिए होता है, इस लोक के लिये नहीं होता। कुछ लोगो की ऐसी कल्पना सही नही है। मैं हर बात को ठीक तरह से बताने की कोशिश करता हूं लेकिन शायद आप उस को अच्छी तरह से ग्रहण नही करते। जैसे आप बच्चे को स्कूल मे शिक्षा देने के लिये भेजते हैं—बच्चा स्कूल मे नही जाना चाहता है फिर भी उसको आप जबरदस्ती भी भेजते हैं क्योकि आप जानते हैं कि वह स्कूल-कालेज से डिग्री प्राप्त करेगा, तभी अपनी रोजी कमाने मे कामयाब बन सकेगा। ऊंची पोस्ट मिलेगी, अच्छा वेतन मिलेगा या व्यापार के क्षेत्र मे जायगा तो वहां भी अच्छी कमाई करेगा। इसको आप वर्तमान जीवन के लिये महत्वपूर्ण समझते हैं। लेकिन यदि आप जरा गहरा चिन्तन करेंगे तो आध्यात्मिक शिक्षा इस लौकिक शिक्षा की अपेक्षा कई गुनी अधिक महत्वपूर्ण होती है—ऐसा समझ लेगे। इस अध्यात्मिक शिक्षा से आपका यह लोक भी सुधरेगा और परलोक भी सुधरेगा। यह लोक पहले सुधरता है, तभी परलोक भी सुधर सकता है। इस भावना से आप आध्यात्मिक शिक्षा को ग्रहण कीजिए। इसके प्रभाव से आपकी चिन्ताए दूर हो जायेंगी तथा आप व्यर्थ के पाप कर्मों के बन्धन से बच जायेंगे। इस शिक्षा से आपका मन मस्तिष्क भी हल्का बनेगा। जो शास्त्रो के वचन हैं—भगवान् महावीर ने निर्देश दिये हैं, उन मे सारा ज्ञान निहित है कि उनका अनुसरण करके इस जीवन को किस प्रकार सुखी बना सकते हैं तथा आगे के लिये भी कैसे सुख

पाप कार्यों की सीमा बांधिये : आत्मा हल्की हो जायगी :

मनुष्य अभी तो सोच नही पाता कि उसने कोई पाप कार्य नहीं किया, फिर भी उसके कार्य मे बाधा क्यो आ रही है ? लेकिन इस बाधा का कारण यह भी हो सकता है कि उसने व्यर्थ के पापो का त्याग नहीं किया जिससे निरन्तर आत्मा का भार बढ रहा है और तृष्णा भी निरन्तर बढ़ रही है । कम से कम अनावश्यक पदार्थों का भी जितना त्याग होगा, उतनी तृष्णा सीमित हो जायगी । पाप कार्यों की सीमा बाध लेंगे तो उस सीमा तक का ही भार आत्मा पर चढेगा, बाकी सारे पाप कर्मों के बन्ध से आत्मा बच जायगी । इस सीमाबन्दी से आत्मा का स्वरूप हल्का बनेगा ।

मैं आपसे थोड़ी बात पूछूं । हिन्दुस्तान और पाकिस्तान दो देश बन गये, फिर भी दोनों के बीच मे शान्ति कायम नही हुई । बंगला देश के कारण फिर दोनो देशों में युद्ध छिड गया । उस समय एक साईरन की आवाज से लोगो के दिल दहलने लग जाते थे । मैंने सुना है कि जोधपुर पर पाकिस्तान द्वारा बम वर्षा की जाने की बराबर आशंका बनी रहती थी और जब भी खतरे का साईरन बजता तो लोग खाइयों मे लेट जाते थे । यह युद्ध क्यों हो रहा था ? क्योंकि सीमाओ की मर्यादाएं टूट गई थी । बाद मे जब सीमाओं का निर्णय कर लिया गया और सीमा चौकियां कायम करली गईं तो लोगों के मन पर से युद्ध का भय हट गया । सीमाबन्दी से सुरक्षा हो जाती है । सीमा एक प्रकार की मर्यादा होती है और मर्यादा को अपना लेने पर मस्तिष्क तथा आत्म-भावो मे हल्कापन आ जाता है । उसी प्रकार इस जीवन में जब सीमाबन्दी नहीं होती है तो पाप करने से भी अशुभ कर्मों का बंध होता है तो यह बध बिना पाप किये भी होता है । इन पाप कार्यों की सीमा बांधले तो वर्तमान जीवन मे से कष्ट दूर होने लगें ।

कल्पना करिये कि आपके घर के पास में पडौसी है जो रोज आपके बच्चो को पीट देता है और रोज झगडे करता है । मकानों की बाउन्ड्री नहीं होने से इधर-उधर घुसपैठ हो जाती है और अशान्ति मचती रहती है । तब आप क्या करेंगे ? तब आप सीमाबन्दी करके बाउन्ड्री बना लेगें ताकि दोनों अपनी-अपनी सीमा मे रहे । फिर दोनो के बीच में शान्ति हो जायगी ।

व्यर्थ के पापों का त्याग करने में तो कतई संकोच न करें :

वैसे ही आप व्रत प्रत्याख्यान लेते हैं और सोचते हैं कि व्यर्थ में

और यदि उनके योग व्यापार की सीमा नहीं बांधता है तो व्यापक क्षेत्र के प्राणियो मे भयभीति व्याप्त रहती है, लेकिन अमुक सीमा रखली तथा बाकी का त्याग कर दिया तो वह भयभीति केवल उस सीमा मे ही रह जायगी तथा अन्य सबको शान्ति मिल जायगी।

इस दृष्टिकोण से शास्त्रकार कहते हैं कि सीमा निर्धारित कर लो, नहीं तो व्यर्थ का पाप लगता है और अनैतिकता बढती है। इसलिये व्यर्थ के पापों का त्याग करने मे तो कतई सकोच नही करें।

जीवन में व्यर्थ के पापों का भार

मनुष्य मर्यादाहीन न रहे :

आप कहेंगे कि त्याग नही लें, लेकिन अमरीका, रूस हम जाते नहीं हैं तो पाप कैसे लगेगा ? कैसे पाप लगता है—इस बारे में एक छोटा-सा रूपक देदूं। एक व्यक्ति के घर में बच्चे का जन्म हुआ। उस व्यक्ति के घर मे सम्पत्ति कितनी है, लेनदेन कितना है, कर्जा कितना है—यह सारा लेखा-जोखा उस व्यक्ति को ही मालूम है। उस छोटे बच्चे ने व्यापार अभी चालू किया नहीं, सम्पत्ति वह समझता नही, लेकिन जन्म लेने के साथ ही उस बच्चे का पैतृक सम्पत्ति मे अधिकार पैदा हो गया या नही ? यदि उस व्यक्ति पर कर्जा है तो उसके एक भाग की जिम्मेदारी बच्चे पर भी आयगी या नही ? यदि वह कर्जा नही चुकाना चाहता है तो सम्पत्ति के अधिकार को छोड दे। लेकिन यदि वह इतना ही कहे कि मैं व्यापार के बारे में कुछ जानता नही तो मुझे कर्जे की जिम्मेदारी क्यों उठानी पडेगी तो क्या उसकी यह बात चलेगी ? यह बात चलती नही है। वैसे ही ससार एक बहुत बडा परिवार है, उसमे जिस आत्मा ने जन्म लिया है, उसके जिम्मे सार्वजनिक जितने कारखाने हैं, जितने अन्य सस्थान तथा पदार्थ हैं, उन पर उसका हक कायम हो जाता है। कभी भी जाकर कुछ ले सकता है तो सारी जिन्दगी भर उस कर्जे को सिर पर रखना उसके लिये लाजमी हो जाता है। मर्यादाहीन मनुष्य का ऐसा ही हाल होता है कि वह जीवन मे व्यर्थ के पापों का भार ढोए फिरता है।

दूसरी बात और सोच लीजिये। आपके पिताजी ने कलकत्ता मे पाच सौ रुपये माहवार किराये पर एक हवेली ले ली और भाडा-चिट्ठी लिख दी। वहा जाकर रहना तो नहीं है, लेकिन बच्ची की शादी करनी है, सो समय पर स्थान नही मिले तो कठिनाई होगी—इस विचार से भाडा चिट्ठी लिखी। अब सयोग ऐसा आ गया कि विवाह-शादी का प्रसग आगे सरक गया

सभी मैं क्या बहिनें जाएंगी ? कहा जाता कि मुसलमानों के जमाने में स्त्री-जाति के प्रति कोई सीमा नहीं थी—कोई भी रूपवती स्त्री को उठाकर ले जाता था। आप तो जानते होंगे कि रक्षात्मक भावना से ही पर्दा प्रथा उसी जमाने में शुरू हुई थी।

अभिप्राय यह कि जब तक व्रत नही लिया जाता अथवा मर्यादा नहीं बांधी जाती है तब तक इसी शरीर और बुद्धि के माध्यम से वह रावण आज भी जिन्दा हो सकता है। आप रावण को नही चाहते और राम को चाहते हैं तो पापो की सीमा बाधिये और जीवन के प्रत्येक कार्य मे मर्यादा के साथ चलिये।

सीमा बन्धती है व्रत ग्रहण से
और व्रत से अव्रत टूटता है :

प्रार्थना की दृष्टि से अव्रत की बात कही है तथा व्रत के भेद बताये हैं जिनके अनुसार व्रत ग्रहण करके सीमा मे आ जाना चाहिये। व्रत ग्रहण से ही सीमा बधती है तथा जीवन मर्यादामय बनता है। जिसके साथ शादी करली उसके अलावा सब माताए बहिनें हैं—यह सीमा करने से अन्य सब छूट जाती हैं और विषय-भोग की मर्यादा बध जाती है। चलते-फिरते निरपराध जीवो को नही मारें—ऐसी मर्यादा करते हैं तो व्यर्थ की हिंसा छूट जाती है। झूठ की सीमा बाधते हैं तो व्यर्थ का झूठ छूट जाता है। परिग्रह तथा भोग-उप-भोग की मर्यादा ले लेते हैं तो जो सीमा खुली रखी है उसके अलावा संसार के समस्त पदार्थों का त्याग हो जाता है। इस मर्यादा-निर्धारण से मन को शांति मिलती है क्योकि तृष्णा मिट जाती है तथा तन स्वस्थ हो जाता है क्योंकि चिन्ता हट जाती है। व्रत गृहण करने से स्वभाव मे सौम्यता आती है तो उससे परिवार, समाज तथा राष्ट्र में एकता की भावना बढती है और अव्रत टूटता है तो आत्मा और परमात्मा के बीच की दूरी भी घटती है।

अव्रत टूटता है तो १२३४५ मे से १२००० का कर्जा और घट जाता है। फिर तो ३४५ का कर्जा ही रह जाता है। इसलिये व्रत ग्रहण करके समस्त पाप कार्यों की सीमा बांध लीजिये। अभी आपको सन्तोष नहीं हो तो सीमा ज्यादा रख सकते हैं जिसको आहिस्ता-आहिस्ता घटाते रहिये। सीमा-बन्दी बनी रहने से जीवन सुव्यवस्थित और पवित्र बनता जायगा क्योंकि सीमा के सिवाय अन्य समस्त पाप कार्यों का परित्याग हो जायगा। 'तू सो प्रभु, प्रभु सो तू है' की भावना कार्यरत रही तो उस मार्ग पर प्रगति अवश्यभावी है।

अन्तर का कारण है अशुद्धता :

आत्मा और परमात्मा के स्वरूपो मे अन्तर पडा, उसकी वस्तुस्थिति यह है कि परमात्म स्वरूप अपनी अशुद्धता के सम्पूर्ण परिमार्जन से प्राप्त हुआ तथा ससारी आत्मा के स्वरूप मे न्यूनाधिक रूप से वह अशुद्धता बराबर बनी हुई है। परमात्म स्वरूप अपनी परम शुद्ध अवस्था मे पहुच जाता है तो ससारी आत्मा कर्मों की अशुद्धता से बन्धी हुई रहती हैं और यह कर्म बन्धन की अशुद्धता आत्मा के स्वभाव और उपयोग की अशुद्धता से पैदा होती रहती है। बाहर की दृष्टि शुद्ध स्वरूप से परे होती है और इस जीवन की मूल दृष्टि जब तक बाहर की दृष्टि से जुडी हुई रहती है, तब तक आन्तरिक दृष्टि का परिपूर्ण रूप से विकास नही हो पाता है। दोनों प्रकार के स्वरूपो मे मूलत यही अन्तर होता है तथा इसी अन्तर को मिटा लेने पर यही आत्मा परमात्म स्वरूप का वरण कर लेती है।

कवि ने प्रार्थना की पक्तियो मे इसी सत्य को भव्यजनों के समक्ष प्रकट किया है —

> यू जिन कारणे हो अन्तर तुज पडचो रे,
>
> गुण कारणे करि भंग।
>
> ग्रन्थ उक्ते करि पडित जने कह्यो रे,
>
> अन्तर अग सुअग ॥

जिन कारणों से दोनो स्वरूपों के बीच मे वर्तमान में जो अन्तर दिखाई दे रहा है, उन कारणो को समाप्त करना चाहिये। फर्क इतना ही है कि एक का शरीर तो मैला और दुर्गन्धपूर्ण है तथा दूसरे का शरीर पूर्ण निर्मल तथा सुअग के रूप मे है और इस कारण यह फर्क मात्र मलिनता का है। मैल को पूरी तरह साफ कर लें तो फिर कोई अन्तर नही रहे।

जब किसी वस्तु का सयोग होता है तो जिसके साथ उसका संयोग होता है, उसका ध्यान उस पदार्थ की ओर चला जाता है। वह उस पदार्थ तथा उसके सयोग को देखने लगता है और बहुत दिनो तक देखते-देखते वह उस पदार्थ के स्वरूप मे इतना आसक्त हो जाता है कि वह अपने स्वरूप को भूला देता है—पदार्थ के स्वरूप में ही लीन हो जाता है। उसकी आन्तरिकता मे इस प्रकार जो आसक्ति और लिप्तता फैल जाती है, वही उसकी अशुद्धता है। शुद्ध होता है आत्मा का स्वरूप और जब उस स्वरूप को पदार्थ के परस्वरूप से ढक दिया जाता है तो वह शुद्ध स्वरूप धूमिल पड जाता है—कभी-कभी

रहा है, फिर भी वह प्रमाद ही कहा जायेगा।

इस तरह जहा भी आत्मा अपने स्वरूप तथा स्वभाव से हट कर भी प्रवृत्ति करती है, वह प्रवृत्ति होते हुए भी प्रमाद है। पुरुषार्थ हो, न वह अप्रमत्त पुरुषार्थ होना चाहिये। प्रमादहीन पुरुषार्थ तभो कहलायेगा वह पुरुषार्थ आत्मा के स्वभाव एव स्वरूप के विकास के हित मे नियोजित ा जायेगा। इस तरह से प्रमाद भिन्न-भिन्न रूपो मे होता है तथा उन ' स्थानों पर होता है, जहा आत्मा का उपयोग अपने प्रति नहीं बल्कि र के प्रति और बाह्य पदार्थों के प्रति कार्यरत रहता है। सतत आत्मार्थी अप्रमत्त दशा को परिपूर्ण रूप से प्राप्त कर सकता है।

कोई किसी से पूछता है कि आप कौन हैं ? वह ब्राह्मण होता है उत्तर देता है कि मैं ब्राह्मण हू। तभी उसके मन मे ख्याल आता है कि ्रण जाति सर्वश्रेष्ठ है और इस नजर से मेरे से बढकर दूसरी जाति के ा श्रेष्ठ नही है। इस रूप मे वह जाति के अभिमान से ग्रस्त होता है। : तरह से क्षत्रिय, वैश्य, ओसवाल, अग्रवाल आदि लोग अपनी-अपनी जाति अभिमान करते हैं। प्राचीन काल मे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र - ये : वर्ण बने थे और इन्हो के अन्तर्गत जातियां तथा उपजातिया बनी हैं। वक्त शूद्रो मे मद का प्रसग नही था, बाकी तीनों वर्णों के लोगो मे मद भावना रहती थी कि वे बडे हैं। यह जाति मद भी प्रमाद का एक रूप ा है। छुआछूत की जो भावना है, उससे भी जाति मद ही फूटता है।

तीर्थंकरो ने जाति मद का बहिष्कार किया और अप्रमत्त बनने के ो जाति मद को छोडने का निर्देश दिया। उन्होंने जातियो का आधार कर्म माना और घोषित किया कि—

> कम्मुणा बभणो होई,
> कम्मुणा हवई खत्तियो।
> वइसो कम्मुणा होई,
> सुद्दो कम्मुणा हवई ॥

कर्म करने के आधार से ही किसी को ब्राह्मण कह सकते हैं तो ये जाने वाले कर्म के अनुसार ही क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र होते हैं। यदि ह्मण होकर कोई नीच काम करता है तो वह शूद्र की गिनती मे आयेगा ा श्रेष्ठ जीवन जीने वाले शूद्र को ब्राह्मण की सज्ञा दी जा सकती है। यह

इन तीनों वर्णों में से भी अपने दुर्गुणी जीवन के कारण ही सकता है। दुर्गुणी होने के कारण भी किसी को अछूत क्यो मानें—क्योंकि हमारी भव्य सस्कृति मे तो कहा गया है कि घृणा पाप से हो, पापी से कभी नहीं लवलेश, इसलिये दुर्गुणी व्यक्ति को भी पास में लेकर सद्गुणी बनाने का प्रयत्न करना चाहिये। लेकिन जाति की दृष्टि से किसी को नीच या अछूत बताना भयंकर प्रमाद है।

सद्गुण और दुर्गुण के आधार पर प्रमाद का मूल्यांकन :

एक बहुत बडे शहर के बाजार के बीच मे एक झझट खडा हो गया। झगडा था एक पण्डित जी और महारानी मे। लोगों की भीड देखने के लिये इकट्ठी हो गई और देखने वालों के दो पक्ष हो गये। एक पक्ष कहने लगा—देखो, हम इसको ब्राह्मण जाति का होने से पंडित और सद्गुणी समझते थे, लेकिन यह तो दुर्गुणी दिखाई दे रहा है। इसने अपना अनुचित सम्बन्ध इस हरिजन स्त्री से बना लिया है। वह हरिजन स्त्री झाडू लिये हुए पास मे खडी थी। वह ब्राह्मण से कह रही थी—अब तो आप मेरे पति हैं, मुझे छोड नही सकते हैं। दूसरा पक्ष कह रहा था कि यह सब गलत है। यह तो ब्राह्मण होकर पर स्त्री को माता समझ कर चलने वाला है। आखिर हगामा बहुत बढ़ गया और मामला न्यायाधीश के सामने पेश हुआ।

न्यायाधीश ने उस हरिजन स्त्री से पूछा बाई, तू सच-सच बता कि इस ब्राह्मण ने क्या तेरे साथ कोई दुर्व्यवहार किया है ? उसने कहा—मैं और कुछ क्या कह सकती हूं, ये ब्राह्मण मेरे पति रूप हैं। न्यायाधीश ने तब पंडित से पूछा—सही मामला क्या है, आप बताइये। पडित बोला—श्रीमान्, मैं सच कह रहा हूं कि यह मुझ पर झूठा लाछन लगा रही है। मैंने इसके साथ कुछ भी नहीं किया, मैं तो इसको जानता भी नही हू। मैं नित्य नियम के अनुसार स्नान करके आ रहा था कि इसने कोई अशोच पदार्थ मेरे पर गिरा दिया तो मैंने इसको डाटा। इसने मुझ पर ककर फैंका और मुस्कराने लगी। मैंने कडक कर कहा—तू निर्लज्ज है। बस फिर यह बकवास करने लगी और भीड इकट्ठी हो गई। यह मेरा हाथ पकडने लगी, मैंने हाथ नही पकडने दिया। इसके अलावा मैं कुछ नहीं जानता हूं।

उस हरिजन स्त्री से न्यायाधीश ने फिर पूछा—बहिन, सच-सच बता कि बात क्या है ? तब वह बोली—न्यायाधीश महोदय, आप ही न्याय

प्रतिज्ञा दोहराई तथा परिवार वालों के आज्ञा-पत्र भी दिये। ये तरुणियां दीक्षित होना चाहती हैं। इनके मन मे यह भावना क्यो जगी? बहुतेरी बहिनें इनके समान युवतियां हैं जिनके लिये दीक्षा की बात तो दूर—धर्मस्थान पर पहुंचना भी कठिन होता है। उनको तो अपनी रगरेलियां चाहिये। लेकिन मैं चेताता हू कि वे भूली हुई हैं। जो बाह्य पदार्थों मे भूला हुआ रहता है, उसके पास चाहे जितनी सम्पत्ति और शिक्षा हो लेकिन उसके लिये यही कहा जायगा कि वह आत्म विस्मृत है—अपने आपको भूला हुआ है और वहां प्रमाद की मौजूदगी है। जहां प्रमाद है, वहां पांचों इन्द्रियों के विषय-भोग की लालसा ही अधिक रहती है। प्रमाद की मौजूदगी मे उनका ध्यान त्याग की ओर नही जाता है।

ये तरुणियां अभी रगबिरगी पोषाक में थी, लेकिन वे साधु की श्वेत पोषाक धारण करके महावीर के शासन की शोभा बढ़ाने के लिये तत्पर हो रही हैं। ऐसे कई तरुण-तरुणियां आपके समक्ष इस संस्था में प्रविष्ट होकर आत्म-कल्याण की दृष्टि से अप्रमत्त अवस्था मे पहुच कर कर्मों के बन्धनो को तोड़ना तथा परमात्मा के समीप मे पहुचना चाहते हैं। इस विषय में कुछ विशेष क्रान्तिकारी कदम आचार्य श्री गणेशलाल जी म. सा. ने उठाया था और तब से एक आचार्य की नेश्राय मे शिष्य परम्परा का विकास हुआ क्योंकि आचार्य पद स्थायी रहता है—केवल व्यक्ति आता है और जाता है। इसलिये आचार्य पद तीर्थंकरो के शासन की एकता का द्योतन करने वाला है। इसलिये सारे साधु-साध्वी केन्द्रीयकरण मे रहें अर्थात् एक ही आचार्य की नेश्राय में सब दीक्षा लें—एक ही आचार्य के सभी शिष्य कहलावें तो सघ-एकता का अनूठा रूप उपस्थित होता है। इससे बीमार व वृद्ध सन्तों की सेवा व्यवस्था भी सुचारु रूप से हो सकती है तो नव-दीक्षितों को अध्ययन मनन का भी सुन्दर अवसर मिल जाता है। यह सब प्रयास प्रमाद को त्यागने का तथा आत्मा की तरफ सतत लक्ष्य रखते हुए अप्रमत्त अवस्था मे पहुंचने का है। प्रमाद कही भी नही आवे—कभी भी नहीं आवे।

प्रमाद छूट जायगा,
तो निर्विकारी स्वरूप समीप आ जायगा।

आत्म-स्वरूप पर चढ़ रहे कर्मों के कर्जे का विवरण आपको याद होगा। पाच कारणों में से पहले तीन कारण—मिथ्यात्व, अव्रत तथा प्रमाद छूट जाते हैं तो कर्जे की कुल रकम १२३४५ मे से केवल ४५ ही चुकाने बचते

प्रतिज्ञा चौहराई तथा परिवार वालों के आज्ञा-पत्र भी दिये। ये तरुणियां दीक्षित होना चाहती हैं। इनके मन मे यह भावना क्यो जगी? बहुतेरी बहिनें इनके समान युवतियां हैं जिनके लिये दीक्षा को बात तो दूर—धर्म स्थान पर पहुचना भी कठिन होता है। उनको तो अपनी रगरेलियां चाहिये। लेकिन मैं चेताता हू कि वे भूली हुई हैं। जो बाह्य पदार्थों में भूला हुआ रहता है, उसके पास चाहे जितनी सम्पत्ति और शिक्षा हो लेकिन उसके लिये यही कहा जायगा कि वह आत्म विस्मृत है—अपने आपको भूला हुआ है और वहां प्रमाद की मौजूदगी है। जहां प्रमाद है, वहां पांचों इन्द्रियों के विषय-भोग की लालसा ही अधिक रहती है। प्रमाद की मौजूदगी मे उनका ध्यान त्याग की ओर नही जाता है।

ये तरुणियां अभी रगबिरगी पोषाक में थी, लेकिन वे साधु की श्वेत पोषाक धारण करके महावीर के शासन की शोभा बढाने के लिये तत्पर हो रही हैं। ऐसे कई तरुण-तरुणिया आपके समक्ष इस संस्था में प्रविष्ट होकर आत्म-कल्याण की दृष्टि से अप्रमत्त अवस्था मे पहुंच कर कर्मों के बन्धनो को तोड़ना तथा परमात्मा के समीप मे पहुचना चाहते हैं। इस विषय में कुछ विशेष क्रान्तिकारी कदम आचार्य श्री गणेशलाल जी म. सा. ने उठाया था और तब से एक आचार्य की नेश्राय मे शिष्य परम्परा का विकास हुआ क्योंकि आचार्य पद स्थायी रहता है—केवल व्यक्ति आता है और जाता है। इसलिये आचार्य पद तीर्थंकरो के शासन की एकता का द्योतक करने वाला है। इसलिये सारे साधु-साध्वी केन्द्रीयकरण मे रहें अर्थात् एक ही आचार्य की नेश्राय में सब दीक्षा लें—एक ही आचार्य के सभी शिष्य कहलावें तो संघ-एकता का अनूठा रूप उपस्थित होता है। इससे बीमार व वृद्ध सन्तों की सेवा व्यवस्था भी सुचारु रूप से हो सकती है तो नव-दीक्षितो को अध्ययन मनन का भी सुन्दर अवसर मिल जाता है। यह सब प्रयास प्रमाद को त्यागने का तथा आत्मा की तरफ सतत लक्ष्य रखते हुए अप्रमत्त अवस्था मे पहुचने का है। प्रमाद कही भी नही आवे—कभी भी नहीं आवे।

प्रमाद छूट जायगा,
तो निर्विकारी स्वरूप समीप आ जायगा।

आत्म-स्वरूप पर चढ़ रहे कर्मों के कर्जे का विवरण आपको याद होगा। पाच कारणो में से पहले तीन कारण—मिथ्यात्व, अव्रत तथा प्रमाद छूट जाते हैं तो कर्जे की कुल रकम १२३४५ मे से केवल ४५ ही चुकाने बचते

है। यह फिर मामूली राशि है और इन तीन कारणों की समाप्ति के बाद बाकी के दोनों कारणों—कषाय और योग को समाप्त कर देना अधिक कठिन नहीं रहता है। इसलिये प्रमाद की समाप्ति के साथ ही आत्मा निर्विकारी स्वरूप के समीप चली जाती है और जो निर्विकारी स्वरूप है, वही आत्मा का शुद्ध स्वरूप है। जितना कर्मों का मैल है वह विकारों के सेवन से आत्मा-स्वरूप पर लगता है और इस मैल से छुटकारा पालें तो फिर आत्मा का उद्धार सुनिश्चित हो जाता है।

मानव-जीवन की इसी में सार्थकता है कि अशुद्धता के रूप में आत्मा और परमात्मा के स्वरूपों में जो वर्तमान में अन्तर है, उसको निरन्तर घटाते रहने का शुभ प्रयास किया जाय।

गंगाशहर-भीनासर
दि० १७-८-७७

अन्तर्दर्शन

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए............

भव्य जनो की शुभ भावनाओ का अनुभव लेकर कवि आनन्दघन जी ने परमात्मा की प्रार्थनाओ की रचना की है। कभी-कभी प्रार्थनाओ का प्रवाह परमात्मा की स्थिति के प्रसंग से दोनों तरफ बहता है। नदी अपने दोनों तटों को हरा-भरा करती हुई चलती है। दोनो तटों की शोभा बढ़ाती हुई ही वह समुद्र की ओर प्रगतिशील बनती है। वैसे ही इस जीवन मे यदि आध्यात्मिक चेतना का समुचित रूप से विकास हो जाय तो वह चेतना शक्ति भी भी नदी की ही तरह जीवन के दोनों तटो को हरा-भरा एव शोभास्पद बनाती हुई वीतरागता के समुद्र मे अन्तर्निहित हो जायगी। ये दोनो तट बाहरी और भीतरी जीवन के रूप मे अथवा इहलोक एव परलोक की स्थिति के रूप मे माने जा सकते हैं।

किन्तु इस चेतना का विकास कैसे होगा ? यह चेतना शक्ति इसी आत्मा की शक्ति है जो सांसारिकता मे लिप्त होने से आध्यात्मिक मार्ग की तरफ से सुषुप्त सी बनी हुई है। आध्यात्मिक दृष्टि से जागृति हो तभी उसका तदनुकूल विकास सम्पादित किया जा सकता है। ऐसे विकास के लिये अन्तर्दर्शन के अभ्यास की आवश्कता होती है। कारण, अन्तर्दर्शन होगा तभी अन्तर्चेतना के स्वरूप की परीक्षा हो सकेगी एव उस स्वरूप की जागृति अन्तर्दर्शन के परिपुष्ट अभ्यास से ही सम्पन्न होगी।

जीवन की रिक्तता

आज के मानव के समक्ष इस लोक की समस्याएं विशेष रूप से मुह फाड कर खडी रहती हैं। मनुष्य यह चाहता है कि मेरा यह दृश्य जीवन, जिसके अन्दर मैं जी रहा हूं, जिस परिवार मे मेरा रहना हो रहा है, जिस समाज के बीच मे मैं चल रहा हू और जिस राष्ट्र के साथ मेरा सम्बन्ध है, उन सभी स्थानों के ऊपर प्रतिष्ठित रहू। मेरी पहुच सभी स्थानो पर हो। मैं इन कार्यों को करता हुआ कभी भी किसी से दबू नहीं और सर्वत्र मेरी प्रशंसा हो।

यह प्रशंसा-प्रतिष्ठा तथा कीर्ति की भावना साध्य रूप नहीं, लेकिन शुभ उद्देश्यों की पूर्ति के साधन रूप हो तो उस भावना से जीवन में सेवा, सहयोग और सत्कार्य बनते हैं।

किन्तु मनुष्य की यह भावना भी धन और वैभव प्राप्त करने के उद्देश्य जैसी होती है कि किसी भी तरह प्रशसाप्रतिष्ठा और कीर्ति प्राप्त हो। इस के लिए वह जैसी अनीति का आचरण धन कमाने के क्षेत्र में करता है वैसी ही अनीति का आचरण वह इस क्षेत्र में भी करना आरंभ कर देता है। कीर्ति का बाहरी आवरण इस रूप में खडा कर दिया जाता है—जैसे कि वह एक महान् पुरुष है। किन्तु कोई विवेकशील व्यक्ति उस "महान् पुरुष" के भीतर झांक कर देखे तो उसके जीवन का खोखलापन साफ दिखाई दे जाता है।

इस तरह अनीति पर आधारित करके जो व्यक्ति वंचनापूर्ण जीवन जीते हैं, वे सामान्य रूप से समाज में विविध प्रकार की समस्याए खडी कर देते हैं। धनार्जन और यशार्जन के क्षेत्रों में ऐसी फर्जी कार्यवाहियों से समान्य जन के लिये कई तरह की समस्याए पैदा हो जाती हैं, वे ही इह लोक की लौकिक समस्याए है। इन लौकिक समस्याओं से आध्यात्मिक क्षेत्र में भी कई कठिनाइयां सामने आती हैं और उनका हल निकाले बिना आत्मोन्नति का मार्ग निष्कटक नहीं बनता है।

पहले पहल तो मनुष्य धनार्जन और यशार्जन के क्षेत्रों में नीति के अनुसार प्रयत्न और पुरुषार्थ करता है, किन्तु ऐसा करने पर भी दुनियां की आपाधापी में जब उसको इच्छानुसार फल नहीं मिलता है तो वह भी उस आपाधापी में शामिल हो जाना चाहता है तथा नीति को छोड कर अनीति के मार्ग पर चल पडता है। नीति पर चलते हुए वह अनुभव करता है कि उसके जैसे लोगों की संख्या और उनका प्रभाव बहुत कम है और इसी कारण वह अपने या अपने परिवार जनों के अभावों को पूरा नहीं कर पाता है। कभी-कभी तो परिवार के सदस्य भी उसका निरादर करने लगते हैं—समाज और राष्ट्र में आदर पाना तो दूर की बात होती है। वह देखता है कि सभी जगह वे ही लोग आदर पाते हैं और उन्हीं की कीर्ति मे ज्यादातर चार चांद लगते है जो सम्पन्न होते हैं—इसका कोई विचार नहीं है कि वह सम्पन्नता उन्होने कितनी अनैतिकता से प्राप्त की है ?

नीति पर चलते हुए उसको चारों ओर निराशा ही दिखाई देती है। सुख की बजाय पग-पग पर दुर्भाग्य सामने खडा हुआ मिलता है। नानाविध कठिनाइयां उसको घेर लेती हैं। तब उसके जीवन में रिक्तता प्रवेश करने

है। जो आत्मिक पृष्ठभूमि में आध्यात्मिक अनुभाव होता है, उससे उसका जीवन रिक्त बन जाता है। जीवन की उस रिक्तता में वह भी पागलों की दौड में शामिल हो जाता है और अनीति की कालिमा से अपने जीवन को रंगता हुआ आत्म विस्मृत बन जाता है। जीवन की ऐसी रिक्तता अत्यन्त भयावह होती है।

जागृति के सुनहले क्षण:

जीवन की भयावह रिक्तता में भी कभी चिन्तन का प्रसंग उपस्थित हो जाता है तो भावना की अनुकूलता के साथ मनुष्य अपनी दुर्दशा पर चिन्तन करने लगता है। वह कुछ गहरे उतर कर सोचता है—मेरे जीवन की ऐसी दुर्दशा क्यों हो रही है ? यदि मैं, जैसा कि मुझे महसूस होता है दुर्भागा हूँ तो क्या यह मनुष्य जीवन दुर्भाग्य से मिलता है ? तब मैं दुर्भागा तो नहीं ही हूं। सद्भागी ही हू और शायद है, मैं अपने सद्भाग्य को ठीक से नहीं समझ पा रहा हूं। इस मनुष्य जीवन में सभी आत्मिक शक्तिया विकसित होने को आतुर हैं मैं ही दुर्दशाग्रस्त बन कर उन्हें नहीं समझ पा रहा हूं। मैं अपने भीतर केवल अभाव ही अभाव देख रहा हूं रिक्तता महसूस कर रहा हूं और जीवन का सही सूत्र नहीं पकड़ पा रहा हूं। मुझे वह सूत्र पकडना होगा.......... ।

ऐसी चिन्तन धारा जब प्रवाहित होती है तो कभी-कभी उसमें भावनाओं की बाढ भी आ जाती है। उस बाढ में जीवन का बहुत सारा कचरा बह जाता है। कई महापुरुषों के जीवन हमारे सामने हैं जो इन भावनाओं की ऐसी उच्चतम कोटि मे इतने जल्दी पहुच गये कि चन्द क्षणों में ही उनके जीवन की समूची उज्ज्वलता निखर उठी। जागृति के सुनहले क्षण ऐसे ही होते हैं। फिर उस जागृतिपूर्ण चिन्तन धारा से जीवन के दोनो तट हरितिमामय बनते हैं तो शोभादायक भी बन जाते हैं। ये दोनों तट बाहरी और भीतरी जीवन के होते हैं। जो इस प्रकार की चिन्तन धारा से सजल और सरस बन जाते हैं। यह जीवन सरस बनता है तो परलोक स्वयं ही सरस बन जाता है।

जागृति के ऐसे सुनहले क्षण यदि स्वय का विवेक जागृत बन जाय तो स्वय की भावना से भी उत्पन्न हो सकते हैं तथा सन्त समागम से भी उत्पन्न होते हैं। जब मनुष्य सन्तों के समीप मे पहुचता है तो वह प्रभु की प्रार्थना तथा भगवान् की वाणी का श्रवण करता है। उस वाणी में उसका रस जमता है तो वह ज्ञान-चर्चा भी करता है तथा अन्तर्दर्शन की तरफ प्रेरित होता है। सन्त समागम जितना प्रभावशाली होता है, उतने ही रूप में वह अपनी भावनाओ को शुभता में ले जाता है तथा आत्मोत्थान के लिए पुरुषार्थ जुटाने का

संकल्प बनालेता है। यह मोड उसके जीवन का सुखद मोड़ होजाता है और वह धीरे-धीरे ही सही अपने जीवन को स्वस्थ बना लेता है। एकबार जो जागृति के क्षण जीवन में आते हैं, उनकी यदि सुरक्षा कर ली जाती है तथा तदनुसार परिवर्तन ले पाया जाता है तो वे क्षण स्थायी बन जाते हैं। उनके स्थायित्व का अर्थ होता है आत्मा की सतत् जागृति और उस जागृति से परिपूर्ण शुद्धि।

प्रार्थना का प्रयोजन:—

प्रार्थना में संकेत दिया गया है कि तू सुपार्श्वनाथ भगवान् का वन्दन कर। आज के युग के व्यक्ति को प्रयोजन बतलाने की दृष्टि से पहली कडी में ही संकेत दे दिया है कि मैं जो वन्दन कर रहा हू, वह बिना प्रयोजन के नही है। इसके लिये कहा गया है कि—

> श्री सुपार्श्व जिन वंदिए,
> सुख सम्पत्ति नो हेतु—ललना,
> शान्ति सुधारस जल निधि,
> भवसागर मा सेतु—ललना

देखिये, इसमे कहा है कि तू परमात्मा को वन्दन कर और वन्दन करने से तुझे फल मिलेगा। वह फल क्या है? कहा जाता है कि साधक को फल की कामना नही करनी चाहिये, लेकिन फल की कामना किस रूप मे नहीं करनी चाहिये—यह समझने की बात है। फल की कामना मागनी या याचना के रूप में नहीं करनी चाहिये। इसके अन्तर को समझ लीजिये।

एक व्यक्ति धर्म करणी का मूल्यांकन करता है और दूसरा व्यक्ति धर्म करणी करता है, लेकिन उसके मूल्य की कामना नहीं करता है। धर्म करणी का मूल्यांकन करने वाला जब वन्दन करने की स्थिति मे आता है तो सोचता है कि मेरी धर्मकरणी का फल हो तो मुझे अमुक वैभव मिले, सन्तान मिले या अन्य प्राप्ति हो। ऐसी फल कामना उस धर्म करणी को बेचने के समान होती हैं। ऐसी फल कामना वधनकारी होती है क्योंकि उसके द्वारा अमूल्य वस्तु को मूल्य के साथ वेच दी जाती है। एक चिन्तामणि रत्न किसी व्यक्ति को मिल जाता है और वह उसकी कीमत नहीं समझता है तो वह जौहरी के पास चला जाता है कि जितनी कीमत वह अपनी ईमानदारी से उचित समझे वह उस को देदे। तब तो जौहरी सोचने पर वाध्य होगा लेकिन वह अगर यह कहे कि मुझ दस रुपये दे दो और यह टुकडा ले लो तो जौहरी सोचने पर भी बाध्य नहीं होगा और दस रुपये में चिन्तामणि रत्न खरीद लेगा।

इसमें दोष खरीदने वाले का नहीं है, बेचने वाले का है। इसी रूप में धर्म करणी करने वाले भाई-बहिन यह भावना रख सकते हैं कि उसका उन्हे फल मिलेगा, लेकिन दस रुपये मे चिन्तामणि रत्न बेचने की तरह धर्मकरणी को बेचने के लिए वे कीमत नही करें वे फल की यही भावना रखें कि उनकी आत्मा शुद्ध होगी, बाकी जो मिलेगा, वह अपार मिलेगा। लेकिन मापनी या याचना नहीं होनी चाहिये।

परमात्मा को प्रार्थना का जो प्रयोजन बतलाया गया है वह यही है कि इससे सुख और सम्पति मिलेगी लेकिन वह लौकिक नही, अलौकिक होगी तथा जिस की सहायता से भवसागर मे पुल बन जायगा याने कि परमात्मा स्वरूप कि दिशा में प्रयाण हो जायगा एव शान्ति का अमृत पीने को मिलेगा। प्रार्थना का प्रयोजन कभी लौकिक वाछा रूप नहीं होना चाहिए।

अन्तर्दर्शन का सुफल

धम करणी के फल को भी यदि जानना चाहे तो उसको ध्यान में रखलें। जो परमात्मा को नमस्कार किया जाता हैं-वह व्यर्थ मे जाने वाला नहीं है। यह नमस्कार सुख सम्पति का हेतु है। सुख सम्पति का हेतु क्यो है? जब भी आप परमात्मा को, गुणी जनों को, सन्त पुरुषों आदि को नमस्कार करने की स्थिति मे होंगे और सही भाव से नमस्कार कर रहे होंगे तो उस समय बुद्धि मे निर्मल ज्ञान ततु आये बिना नही रहेगे कारण उस समय तुरन्त यह तुलना सामने आयेगी कि जिनको नमस्कार किया जा रहा है वे किस धरातल पर खडे हैं और नमस्कार करने वाला किस धरातल पर खडा है? उस तुलना से प्रेरणा जाग्रत होगी। तब आत्मा की अशुद्धता और कर्मजन्य मलिनता को धोने का सकल्प पैदा होगा। सतो के दर्शन के समय तो शुभ भावो का प्रवाह चलेगा और तब पाप पूर्ण भाव रुक जायेंगे। मन पाप से रुकेगा तो सद्गुणों में रमेगा क्योकि मन गति तो करता ही है। अगर उसको पाप की ओर जाने से रोक लेंगे तो उसकी गति धर्म की ओर ही बढेगी।

आप अन्तर्दर्शन करने का अभ्यास कीजिये, फिर आपको विदित होगा कि कितने बुरे विचार रात-दिन आते रहते हैं तथा उनके दबाव से मन किस रूप में धर्म कार्यों से विमुख रहता है? पहले तो अन्दर देखने पर प्रकाश ही नहीं दिखाई देगा, क्यों कि वहा अधकार भरा हुआ है, लेकिन ज्यो-ज्यों अभ्यास पुष्ट बनेगा और आप अन्दर की गहराई में उतरेंगे त्यों-त्यों आप वहा की स्थिति को देखकर विह्वल हो जायेंगे और विचार मे पड जायेंगे कि क्या मेरी जिन्दगी बुरे विचार से ही भरी हुई है? उस स्थिति मे सुधार लाने के

लिए मुझे निश्चय ही उन महापुरुषो का सान्निध्य प्राप्त करना होगा । जिनका जीवन भीतर और बाहर से स्फटिक की भाति निर्मल एव पारदर्शी बन चुका हो । ऐसी पावन आत्मा मे झाककर देखने पर निश्चय ही मेरा प्रतिबिम्ब सामने आ जायेगा । उस (उभरते हुए) प्रतिबिम्ब को वीतराग भाव की दृष्टि से अवलोकित कर विभाव के सारे कलिकल दूर करने का सत्पुरुषार्थ भी मुझे ही करना होगा ।

ससारी प्राणियो की आत्मा, आज, कल, परसो या वर्षों से ही नही, अनन्त अनन्त जन्मो से, कर्मों से जकडी होने के कारण से स्वय का परिपूर्ण जागृत रूप निहार नही पा रही है । ऐसी स्थिति मे उसके अनुमान से परे की बात होती जा रही है कि उसका निज स्वरूप कैसा है ? एक बार जगल मे, पानी का एक सरोवर पूर्ण रूप से शैवालाच्छादित था। । अर्थात् पानी के ऊपर काई की गहरी पर्त आई हुई थी । जिसके कारण बाहर से देखने वाले को भी पानी दिखलाई ही नही देता था। इधर सरोवर मे रहने वाले जलचरो को बाह्य दृश्य दिखलाई नही देते थे । इस सरोवर मे एक लघुकाय कछुआ जिसने जन्म के बाद अब तक बस इस सरोवर को ही देखा था । वो तो क्या उस सरोवर मे रहने वाले किसी भी जलचर ने कभी बाहरी दृश्य नही देखे थे । इसीलिए सब के सब यह मान बैठे थे कि दुनिया केवल इतनी ही है । इससे अतिरिक्त अलौकिक दुनिया की कल्पना, कल्पना ही है । (जो जिनका सत्य से कोई वास्ता नही) ऐसी उन सबकी धारणा थी । तदनुसार उस बाल कछुए की भी धारणा थी । पर सरोवर के तट पर ही एक आम का वृक्ष था । जिस वृक्ष से एक पका हुआ आम, डाली से टूट कर उस सरोवर मे आ गिरा, छपाक की आवाज हुई । और जब वह शैवाल को चीरता हुआ भीतर मे समाता चला गया । ठीक उसी समय वह कछुआ सरोवर में उसी स्थान के आस-पास घुम रहा था । उसने शैवाल मे वह छेद देखा तो झट से उसने अपनी गर्दन उसमे से बाहर निकाली । उस समय बाहर का हृदय उसने जो देखा सो देखता ही रह गया । यह क्या अनन्त आकाश कैसा है । चन्द्रमा एव अगणित तारे जगमगा रहे हैं । जिनका झिल-मिल प्रकाश एव चन्द्रमा से छिटकती चादनी अनुपम शीतलता का सचार कर रही है । वाह !!! क्या दुनिया का ऐसा अलौकिक रूप भी है ? (क्योकि उस दिन पूर्णिमा थी) मैं क्या मेरा सारा परिवार तो केवल सरोवर के भीतरी क्षेत्र को ही सारा ससार मान बैठा है । लेकिन ऐसा अद्‌भुत रूप तो मुझे आज ही देखने को मिला है । यह सोचकर कछुआ बहुत समय तक को टकटकी लगाए उस शीतल सुधा का पान करता रहा । फिर सोचा क्या ही अच्छा हो कि ऐसा अनुपम रूप मैं

अपने परिवार वालों को भी बताऊ, जिस सुख को मै पा रहा हू, उस सुख मे उन्हे भी सहभागी बनाऊ । यह सोचकर वह कछुआ अपनी गर्दन नीचे लेता है । और परिवार वालो को बुलाने चल पडता है । तब तक शैवाल यथावत् हो जाती है वह छिद्र पूर्व की तरह पूर्ण रूप से शैवालाच्छादित हो गया इधर वह अपने परिवार वालो के पास पहुचा और उनके सामने बडे उत्साह के साथ जो अलौकिक दृश्य देखा था उसका वर्णन करने लगा। साथ ही यह आग्रह भी किया कि आप चले मै अभी आप सबको वह दृश्य दिखलाता हू । प्रथम तो उन सबको इस बात पर विश्वास ही नही हुआ । पर वे प्रत्यक्ष दर्शन की बात को सुनकर चल पडे उस दृश्य को देखने के लिए अब वह कछुआ अपने सारे परिवार को लेकर उस सरोवर मे इधर से उधर चक्कर लगाने लगा। पर उसे अब वह छिद्र ही दिखलाई नही दिया । जिस छिद्र से उसने बाहरी दुनिया को देखा था । पारिवारिक अन्य सदस्य उसे पूछ-पूछ कर परेशान हो उठे कि कहा है वह दृश्य जिसकी बडे जोरो से चर्चा कर रहा था ? हम तो पहले से ही जानते थे कि तू गप्प हाक रहा है और हकीकत मे तू कर भी वैसा ही रहा है । अब क्या जवाब दे, बिचारा वह निरीह कछुआ, क्योकि उस छिद्र के ऊपर तो मोटी शैवाल आ चुकी थी । वह अनुभूति को अभिव्यक्ति का रूप नही दे पा रहा था । जिस प्रकार उन कछुओ को उस अलौकिक आकाश के स्वरूप को समझाना दुशक्य है । क्योकि उन्होने अपनी पूरी जिन्दगी मे कभी ऐसा दृश्य नही देखा था । ठीक यही स्थिति आज के युग मे भी घटित हो रही है ।

ससारी व प्रत्येक आत्मा कर्मों के पर्त से आच्छादित है । ससार की लगभग सभी आत्माए सात—आठ कर्मो का बन्धन प्रति समय कर रही है। सात-आठ कहने का तात्पर्य यह है कि आयुष्य कर्म का बन्धन होता है उस समय आठ कर्मो का बन्धन जानना और जिस समय आयु कम का बन्धन नहीं, उस समय सात कर्मों का बन्धन होता है । यह आत्मा, अनादि अनन्त-से उन कर्मो से जकडी चली आई है । इसी का कारण है कि वह आत्मा के अन्तर मे रहे हुए परमात्मा के विशाल रूप को नही देख पा रही है । यदि किसी के द्वारा उसे उस के विषय मे बतलाया भी जाता हे तो वह उसे समझने या मानने को तयार नही है । क्योंकि अन्तरग का कुछ रूप ही ऐसा है, जो अभिव्यक्ति मे नही, अनुभूति मे ही समझ मे आता है ।

इन शास्त्रीय अभिव्यक्ति के माध्यम से भव्यात्माओ को अपनी अनु-

भूति को जगाने का यह सुन्दर अवसर प्राप्त हो गया है। भगवान सुपार्श्वनाथ की प्रार्थना मे सुख-सम्पत्ति के पाने मे हेतु के रूप मे बुद्धि को बतलाया है। उसे बुद्धि के सही तरीके से जागृत होने पर किये गये सत्पुरुषार्थ के बल पर कर्मों का भेदन किया जा सकता है। तभी हमे परमात्मा का असली रूप निहारने एव लोकोत्तर सुख की आशिक अनुभूति हो सकती है, और जब पूर्ण रूप से कर्मों का अन्त हो जाता है तब जो परमात्मा का रूप आत्मा मे निखरने लगता है उसका तो कहना ही क्या। वह परम स्वरूप ही आत्मा को परमात्मा के नाम से अभिव्यजित कर देता है। प्रज्ञापुरुष भगवान महावीर ने अपनी समता साधना के बल पर ही तो लगभग १२½ वर्ष की सुदीर्घ साधना के पश्चात् केवलज्ञान-केवलदर्शन का अलौकिक दीप प्रज्जवलित किया था। उसी अलोक मे आज आप और हम अपने आपको देखने एव जानने का प्रयास कर रहे हैं। यह प्रयास हमारा (किरकिर) स्वोत्प्रेक्षी हो। तभी वह उस आत्म रूप को प्रकाशित करने वाला बन सकेगा। यदि हमने अपने प्रयास को इधर-उधर के (पराङ्ग मुखी) बाह्य प्रयासो मे लगाया तो हम कभी भी आत्मसिद्धि के सोपानो पर चढने की स्थिति नही पा सकेंगे।

वर्तमान के युग में पुरुषार्थ बहुत किया जा रहा है। इस विषयक चर्चा भी जोरो पर है चाहे वे पुस्तको मे हो, पत्र-पत्रिकाओ में हो या फिर सोसायटी स्थलो पर हो। (सभी स्थलो पर बातचीत निरन्तर जारी है।) पर यह विचार चर्चा स्वय के लिए नही, परावलम्बित ही अधिक नजर आती है। अपने घर की जिन्दगी की ओर ध्यान आज के अधिकाश लोगो को नही है। वे सब दूसरो के घरो की गदगी की ही प्रतिक्रिया कर रहे हैं। ऐसी प्रतिक्रिया करते-२ ही तो अनेको जिन्दगिया बीत गई पर हम जो चाहते थे, वह आज भी प्राप्त नहीं हुआ। और यही गति रही तो परम स्वरूप प्राप्त होने की सम्भावना भी नही की जा सकती। जिस प्रकार पूर्व की ओर जाने वाला इन्सान पश्चिम की ओर दौडता रहे तो वह चाहे कितनी भी दौड क्यो न लगाले उस दौड से वह पूर्व की ओर गति नही कर सकता। उधर जाने के लिए तो उसे अपने आप मे मोड लाना ही होगा, वैसे ही हम क्रोध, अभिमान, छल, छद्म, विषय-कषायो की बातें करने चले जाये। दूसरो के ये दुर्गुण देखते चले जाय पर अपनी ओर झाँकने का प्रयास न करे तो हमारी यह यात्रा भी पूर्व की ओर जाने वाले इन्सान की पश्चिम मे दौड लगाने जैसी होगी। जरा इसे मोड कर अपनी ओर करना होगा।

कहते हैं कि एक गुरु शिष्य थे। गुरु के पास मे एक ऐस

अपने परिवार वालों को भी बताऊ, जिस सुख को मैं पा रहा हूं, उस सुख मे उन्हे भी सहभागी बनाऊ । यह सोचकर वह कछुआ अपनी गर्दन नीचे लेता है । और परिवार वालो को बुलाने चल पडता है । तब तक शैवाल यथावत् हो जाती है वह छिद्र पूर्व की तरह पूर्ण रूप से शैवालाच्छादित हो गया इधर वह अपने परिवार वालो के पास पहुचा और उनके सामने बडे उत्साह के साथ जो अलौकिक दृश्य देखा था उसका वर्णन करने लगा। साथ ही यह आग्रह भी किया कि आप चले मैं अभी आप सबको वह दृश्य दिखलाता हू । प्रथम तो उन सबको इस बात पर विश्वास ही नही हुआ । पर वे प्रत्यक्ष दर्शन की बात को सुनकर चल पडे उस दृश्य को देखने के लिए अब वह कछुआ अपने सारे परिवार को लेकर उस सरोवर मे इधर से उधर चक्कर लगाने लगा। पर उसे अब वह छिद्र ही दिखलाई नही दिया । जिस छिद्र से उसने बाहरी दुनिया को देखा था । पारिवारिक अन्य सदस्य उसे पूछ-पूछ कर परेशान हो उठे कि कहा है वह दृश्य जिसकी बडे जोरो से चर्चा कर रहा था ? हम तो पहले से ही जानते थे कि तू गप्प हाक रहा है और हकीकत मे तू कर भी वैसा ही रहा है । अब क्या जवाब दे, बिचारा वह निरीह कछुआ, क्योकि उस छिद्र के ऊपर तो मोटी शैवाल आ चुकी थी । वह अनुभूति को अभिव्यक्ति का रूप नही दे पा रहा था । जिस प्रकार उन कछुओ को उस अलौकिक आकाश के स्वरूप को समझाना दुशक्य है । क्योकि उन्होने अपनी पूरी जिन्दगी मे कभी ऐसा दृश्य नही देखा था । ठीक यही स्थिति आज के युग मे भी घटित हो रही है ।

ससारी व प्रत्येक आत्मा कर्मों के पर्त से आच्छादित है । ससार की लगभग सभी आत्माए सात—आठ कर्मों का बन्धन प्रति समय कर रही है। सात-आठ कहने का तात्पर्य यह है कि आयुष्य कर्म का बन्धन होता है उस समय आठ कर्मो का बन्धन जानना और जिस समय आयु कर्म का बन्धन नही, उस समय सात कर्मों का बन्धन होता है । यह आत्मा, अनादि अनन्त- से उन कर्मो मे जकडी चली आई है । इसी का कारण है कि वह आत्मा के अन्तर मे रहे हुए परमात्मा के विशाल रूप को नही देख पा रही है । यदि किसी के द्वारा उसे उस के विषय मे बतलाया भी जाता है तो वह उसे समझने या मानने को तैयार नही है । क्योकि अन्तरग का कुछ रूप ही ऐसा है, जो अभिव्यक्ति मे नही, अनुभूति मे ही समझ मे आता है ।

अत शास्त्रीय अभिव्यक्ति के माध्यम से भव्यात्माओ को अपनी अनु-

भूति को जगाने का यह सुन्दर अवसर प्राप्त हो गया है। भगवान सुपार्श्वनाथ की प्रार्थना मे सुख-सम्पत्ति के पाने मे हेतु के रूप मे बुद्धि को बतलाया है। उसे बुद्धि के सही तरीके से जागृत होने पर किये गये सत्पुरुषार्थ के बल पर कर्मों का भेदन किया जा सकता है। तभी हमे परमात्मा का असली रूप निहारने एव लोकोत्तर सुख की आशिक अनुभूति हो सकती है, और जब पूर्ण रूप से कर्मों का अन्त हो जाता है तब जो परमात्मा का रूप आत्मा मे निखरने लगता है उसका तो कहना ही क्या। वह परम स्वरूप ही आत्मा को परमात्मा के नाम से अभिव्यजित कर देता है। प्रज्ञापुरुष भगवान महावीर ने अपनी समता साधना के बल पर ही तो लगभग १२½ वर्ष की सुदीर्घ साधना के पश्चात् केवलज्ञान-केवलदर्शन का अलौकिक दीप प्रज्जवलित किया था। उसी अलोक मे आज आप और हम अपने आपको देखने एव जानने का प्रयास कर रहे हैं। यह प्रयास हमारा (किरकिर) स्वोत्प्रेक्षी हो। तभी वह उस आत्म रूप को प्रकाशित करने वाला बन सकेगा। यदि हमने अपने प्रयास को इधर-उधर के (पराङ्ग मुखी) बाह्य प्रयासो मे लगाया तो हम कभी भी आत्मसिद्धि के सोपानो पर चढने की स्थिति नही पा सकेंगे।

वर्तमान के युग मे पुरुषार्थ बहुत किया जा रहा है। इस विषयक चर्चा भी जोरो पर है चाहे वे पुस्तको मे हो, पत्र-पत्रिकाओ मे हो या फिर सोसायटी स्थलो पर हो। (सभी स्थलो पर बातचीत निरन्तर जारी है।) पर यह विचार चर्चा स्वय के लिए नही, परावलम्बित ही अधिक नजर आती है। अपने घर की जिन्दगी की ओर ध्यान आज के अधिकाश लोगो को नही है। वे सब दूसरो के घरो की गदगी की ही प्रतिक्रिया कर रहे हैं। ऐसी प्रतिक्रिया करते-२ ही तो अनेको जिन्दगिया बीत गई पर हम जो चाहते थे, वह आज भी प्राप्त नही हुआ। और यही गति रही तो परम स्वरूप प्राप्त होने की सम्भावना भी नही की जा सकती। जिस प्रकार पूर्व की ओर जाने वाला इन्सान पश्चिम की ओर दौडता रहे तो वह चाहे कितनी भी दौड क्यो न लगाले उस दौड मे वह पूर्व की ओर गति नही कर सकता। उधर जाने के लिए तो उसे अपने आप मे मोड लाना ही होगा, वैसे ही हम क्रोध, अभिमान, छल, छद्म, विषय-कषायो की बातें करने चले जाये। दूसरो के ये दुर्गुण देखते चले जाय पर अपनी ओर झांकने का प्रयास न करे तो हमारी यह यात्रा भी पूर्व की ओर जाने वाले इन्सान की पश्चिम मे दौड लगाने जैसी होगी। जरा इसे मोड कर अपनी ओर करना होगा।

कहते हैं कि एक गुरु शिष्य थे। गुरु के पास मे एक ऐसा

डण्डा था । वह अगर किसी के मस्तिष्क पर घुमाया जाय तो उस व्यक्ति के सारे अवगुणो की लिस्ट डण्डे पर उद्‌कित हो जाती थी । शिष्य को यह डण्डा वडा अच्छा लगा, और गुरु को अपनी भक्ति से खुश कर डण्डा उनमे ले लिया। गुरु ने देते वक्त एक वात कही थी कि इसका उपयोग मत करना । पर वह चचल शिष्य कहा मानने वाला था। वह हर आगन्तुक व्यक्ति पर घुमाने लगता, और उनके दोषो को देखकर उन्हे डाटता-दुत्कारता था । एक दिन उसके मन मे उत्सुकता जगी कि क्यो न गुरु पर भी डडा घुमाया जाय और मौका देख कर उसने गुरुजी पर भी डडा घुमा ही दिया । गुरुजी भी कोई सर्वज्ञ थे नही, उनके दोष भी डडे पर उद्‌कित हो गये । जिसे देखकर शिष्य को वडा आश्चर्य हुआ । उसने देखा यह कैसा "परोपदेश पाडित्य ?" इनमे तो खुद मे दोष है । पर गुरुजी से यह वात छिपी नही रही । उन्होने शिष्य से कहा । सुनो ! जरा तुम यह डडा अपने ऊपर भी घुमाकर तो देखो । शिष्य ने जव वह डडा अपने ऊपर घुमाकर देखा तो अव तक जितने लोगो पर डडे घुमाए, उनके सारे दोष और उसके अतिरिक्त दोषो का अखूट खजाना ही सामने चला आया। तब उसे बडी लज्जा आयी । तव गुरुजी ने समझाया जो दुसरो के दुर्गु णो को देखता है वह स्वय भी दुर्गु णो से भर जाता है । अत अपनी बुद्धि को आत्मस्वरूप जागृत करने के लिए सद्‌गुणग्राही बनावें तभी कल्याण हो सकेगा। इसी मगल-कामना के साथ ।

— गगाशहर-भीनासर

मन के साधे सब सधै

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए ....

प्रार्थना में 'ललना' को सम्बोधित किया गया है। ललना का जो अर्थ प्रायः मानव के मस्तिष्क में है, वह स्त्री पर्याय से सम्बन्धित है। लेकिन यहाँ सम्बोधन समग्र आत्माओं को है, न कि सिर्फ स्त्री पर्यायवाली आत्माओं को।

जितनी भी आत्माएं हैं, उन आत्माओं के भीतर में जो चेतना शक्ति है—वह शब्द स्त्रीलिंग का है, इसलिये ललना शब्द का प्रयोग किया गया है। उसी चेतना को जागृत करने के लिये प्रार्थना मे कवि ने सम्बोधन दिया है। वह आत्मा और उसकी चेतना कहा है, किस स्थान पर है—वह इन चर्म चक्षुओं से दृष्टिगत नहीं होता है लेकिन उसकी प्रक्रिया सम्पूर्ण जीवन को आप्लावित कर रही है। इस जीवन में जो कुछ भी चमक है, जैसा भी व्यवहार दृष्टिगत हो रहा है, वह सब इसी चेतना का परिणाम है।

चेतना बदले हुए परिवेश में ·

वह चेतना अपने स्वय के रूप में नहीं रह पाई है। उसने अपना परिवेश बदल दिया है। वह दूसरे रूप में चल रही है। सदा से वह दूसरों के आवरण से घिरी हुई है। उनके पीछे ही वह अपना कार्य कर रही है। स्वय की स्वय को अनुभूति नहीं हो रही है इसलिये इस चेतना के लिये स्वय को पाने की दृष्टि से वर्तमान जीवन को देखना आवश्यक है। वर्तमान जीवन के विभिन्न स्तरो को, विविध आवरणो तथा पटो को देखने की कोशिश करेंगे तो एक दिन उस चेतना तक भी पहुच सकेंगे। इस चेतना को ही 'ललना' के नाम से सम्बोधन किया है, इसी चेतना को जानने और समझने की आवश्यकता है।

यह शरीर जो कि सबकी दृष्टि मे आ रहा है, उसके और मन के बीच मे कुछ अन्तर है। शरीर और मन मे परस्पर सम्बन्ध है। एक दूसरे का सम्बन्ध माध्यम की अवस्था से जुडता है। यद्यपि शरीर और मन एक दृष्टि से एक दिखाई देते हैं, लेकिन प्रक्रिया की दृष्टि से जब उन दोनो को देखते हैं तो दोनो मे भिन्नता मालूम होती है। शरीर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति में मन की सहायता के बिना स्वय सक्षम नही होता है। शरीर पर कोई आघात पहुचाता है और मन उसके साथ लगता है, तभी यह ज्ञात होता है कि शरीर को दुख या कष्ट हो रहा है। जब तक मन महसूस नही करता कि शरीर को कही आघात लगा है, तब तक अनुभव मे कष्ट का प्रसग नहीं रहता है।

उदाहरण के तौर पर आप देख सकते हैं कि डॉक्टर जब शरीर के किसी अवयव को काटना चाहता है तो उस भाग में पहले वह अमुक तत्त्व का इन्जेक्शन लगा देता है जिससे मन और शरीर के बीच के सम्बन्ध को वह शून्य बना देता है। इससे शरीर की सूचना मन तक नही जाती और डॉक्टर अपनी इच्छानुसार बिना रोगी को कोई कष्ट महसूस कराये ऑपरेशन कर देता है। मन को नहीं जुड़ने देने पर शरीर के साथ कैसा भी व्यवहार किया जाता है तो उसकी महसूसगिरी नही होती है। अवयव को काट देने पर भी मन से कष्ट का सम्बन्ध नहीं जुडता है क्योकि मन तक उसकी सूचना नही पहुचती है। बीच के माध्यम की दृष्टि से तो आप स्वयं शरीर और मन की स्थिति को समझने का रूपक लें। इस दृष्टिकोण से यह मालूम होगा कि शरीर की अवस्था अलग आवरण के रूप मे है और मन की स्थिति कुछ और है। चेतना अपना स्वरूप भूल कर मन और शरीर के चलाने से चल रही है तथा मन भी अपनी उद्दाम गति से दौड़ रहा है और अपने साथ दूसरे तत्त्वों को दौडा रहा है।

मन और शरीर का सम्बन्ध .

जहा तक सिर्फ मन का विषय है, जब तक वह अपना सम्बन्ध शरीर से नही जोडता है, तब तक शरीर के कष्ट अथवा उसकी अन्य प्रकार की अवस्था का अनुभव नही हो सकेगा। आप चल रहे हैं अपनी धुन मे और अचानक आपका एक घनिष्ठ मित्र बहुत दिनों बाद दृष्टि मे आया। उसे देखते ही आपका मन प्रफुल्लित हो उठा और अनुभव हुआ कि बहुत दिनो से बिछुडा हुआ अनन्य स्वरूप मित्र मिल गया और सामने आ गया। आप हर्ष

विभोर होकर आगे बढे। जैसे ही आपने दृष्टि फैलाई और समीप में गये तो आपको ज्ञात हुआ कि वह तो आपका मित्र नही है। भ्रम से गलत देख लिया—वह तो कोई दूसरा है। उस समय आपके मन मे क्लान्ति आ गई—आप अपने मन में मुरझाने लगे। यह क्या हुआ ? यह मुरझाना और प्रफुल्ल होना क्या सीधे शरीर से बन पडा है ? नहीं, ऐसा नहीं हुआ। शरीर के पीछे यह मन का कार्य हुआ है। शरीर को कोई विशेष कष्ट का प्रसग नहीं आया, लेकिन मन की गतिविधि का शरीर पर प्रभाव पड़ा।

मन और शरीर के सम्बन्ध परस्पर में इतने प्रभावोत्पादक होते हैं कि इन सम्बन्धो का एक दूसरे को परिणाम भी भुगतना पड़ता है। शरीर को कोई कष्ट नहीं हुआ, लेकिन मित्र के मिलन-भाव से मन को जब प्रफुल्लता हुई तो शरीर में भी आल्हादकारी अनुभव पैदा हुआ और जब वह अपना मित्र नहीं निकला तथा मन मुरझा गया तो शरीर की आकृति भी निराश और फीकी दिखाई देने लगी। मन के माध्यम से उसके अनुभव की छाया शरीर पर पड जाती है। क्योंकि उस समय मन और शरीर अपने माध्यम से जुडे हुए होते हैं—एक साथ रहते हैं। इसलिये मन का असर स्वाभाविक रूप में शरीर पर पड़ता है। मन के साथ शरीर भी प्रफुल्ल होता या मुरझाता हुआ दिखाई देता है।

लेकिन यह इस प्रकार का जो मन होता है, उसको शास्त्रीय पद्धति से द्रव्य मन कहा जाता है। इस मन के पटल में अनेक तरह के सस्कार और अनुभव होते हैं—विविध प्रकार की वृत्तिया समाई हुई रहती हैं। मन की स्थिति जितने तौर पर समझी जा रही है, उतनी ही नहीं है। मन की स्थिति बहुत विशाल है, उसका अनुभव लेने का दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक है तथा यदि मन को विधिपूर्वक साधा जाय तो इसके स्वरूप को विराट् भी बना सकते हैं। लेकिन इस प्रकार के इस मन की स्थिति को समझने के लिये बहुत बड़े अभ्यास की जरूरत होती है और ऐसा अभ्यास वर्तमान युग के मानव के पास मे बहुत कम रह गया है। मन और शरीर के सम्बन्धों तथा अनुभव लेने के दृष्टिकोणो को बारीकी से समझे बिना मन के गूढ रहस्यों तक नहीं पहुचा जा सकता है।

मन को साधने के प्रयोग :

मन की गतिविधियों को नहीं समझ पाते हैं, इसी कारण मन के विषय को लेकर अलग-अलग लोग अलग-अलग ढंग से उलझते रहते हैं।

कोई व्यक्ति मन की बात लेकर कभी खिन्न हो जाता है कि मैं धर्मध्यान करने बैठा हू, सामायिक पौषध कर रहा हूं और प्रभु का ध्यान लगाने की चेष्टा करता हू, लेकिन यह मन एक जगह नही ठहरता है—पल मे कहीं का कही चला जाता है। यह मन कहा जाता है, कहा से कहा तक दौड लगाता है और क्यों इतना चचल बना रहता है—इस तथ्य की खोज मनोवैज्ञानिको, दार्शनिकों तथा आध्यात्मिक विज्ञान वेत्ताओं ने की है।

मनोवैज्ञानिक इस मन की खोज करने के लिये निकले तथा वैज्ञानिक तरीकों से मन को साधने के प्रयोग भी उन्होंने किये। मनोविज्ञान के क्षेत्र मे फ्रायड का बडा नाम है, उन्होने बहुत कुछ रूप मे मन की गहराई मे उतर कर मन के स्वरों को गूथा लेकिन उनकी वह खोज शुद्ध भौतिक दृष्टि से हुई। उन्होंने मन की गति का मूल मनुष्य की वासना को माना। फिर उससे आगे का प्रयोग हुआ और पता लगाया गया कि मन दो प्रकार का है—जागृत मन और अजागृत मन। उसमे सामूहिक चेतना को भी स्थान दिया गया। मनोविज्ञान की खोज मे—मन के गूढ स्वरूप की तह मे इससे अधिक गहरा प्रवेश नहीं किया जा सका है।

लेकिन वीतराग देवो ने अपने जीवन को सर्वोच्च स्तर तक ऊपर उठाया तथा मन की गहरी से गहरी थाह ली मन की शक्ति का उन्होने मूल तक पहिचानी। मन की विभिन्न परतों को उन्होने उद्घाटित को तथा मन के गूढ रहस्यो का ज्ञान किया। गहराई तक मन का पता लगा कर उन्होने निर्णय दिया कि यह चेतना जिसको दुनिया देखना चाहती है, शरीर तक ही सीमित नही है। यह चेतना शरीर से बहुत ऊची है और शरीर से बहुत महान् है। द्रव्य मन साधन है, कठपुतली के समान है। वे इस द्रव्य मन से भी बहुत ऊपर उठे। उन्होने भाव मन का अनुभव लिया और अपनी अन्त-चेतना के दर्शन किये। मन के समस्त विकारो को उन्होने परास्त कर दिये और वे विशुद्ध चिन्तन मे निज स्वरूप को प्राप्त करके सदा-सदा के लिये परम आनन्दमय वन गये। ऐसी आनन्दमयी आत्माए 'जिन' शब्द के सम्बोधन से पुकारी गई। जिनको "जिन" भगवान् कहते हैं, वे ऐसी ही परमात्माए हैं जिन्होंने अपने आन्तरिक शत्रुओ को जीत कर अरिहन्त पद प्राप्त कर लिया। इन्हीं अरिहन्तो ने साधना वस्तु मे मन की सम्पूर्ण खोज की, मन को साधने के लिये अनेक उपाय प्रयोग मे लिये तथा श्रेष्ठ और सफल उपायो का उन्होंने अपनी वाणी से ससार को निर्देश दिया। वही वाणी आज हमारे ज्ञान और कर्म का प्रधान सम्बल है।

मन के विभिन्न आवरण
आवरणों का उद्घाटन :

प्रार्थना में केवल श्री सुपार्श्वनाथ भगवान को सम्बोधित किया गया है, वह तो प्रतीक स्वरूप है। जितने 'जिन' भगवान हुए हैं तथा हैं, उन सबको वन्दन किया गया है तथा उन सबको सुख तथा सम्पत्ति के हेतु बतलाया गया है। यह सुख और सम्पत्ति का जो उल्लेख किया गया है, मैं समझता हूं कि इसके द्वारा अपने मन के विभिन्न आवरणों को ही देखने, उन आवरणों का उद्घाटन करने तथा मन को उन आवरणों को समाप्त करने की दृष्टि से जगाने की कोशिश की गई है।

यह मन का विषय ऐसा है कि उसको समझकर जब मन को सही सही लक्ष्य की तरफ मोडने की कोशिश की जाती है तब मन वहां से दूर-दूर भागने की चेष्टा करता है। याद रखिये कि जब तक मन के विषय को गहराई से नहीं समझेंगे तब तक मन पर काबू भी नहीं पा सकेंगे। मन काबू में नहीं आयगा तो परमात्मा को विधिपूर्वक वन्दन भी नहीं कर पायेंगे, जिस वन्दन को कवि ने सुख और सम्पत्ति का हेतु बताया है। इस दृष्टिकोण से ही मैं आपको आपके वर्तमान मन की वृत्तियों से ऊपर उठने का संकेत दे रहा हू। इस मन से सम्बन्धित आध्यात्मिक दृष्टि को आप ध्यानपूर्वक सुनें तथा उस पर चिन्तन मनन करें।

अनादिकाल से इस संसार में परिभ्रमण करते हुए तथा सांसारिक विषयों में आसक्ति रखते हुए इस आत्मा में निज स्वरूप की प्रतीति के प्रति संज्ञाहीनता सी आ गई है और उसके कारण इस मन पर भी कई पर्दे चढ़ गये हैं—कई आवरण आ गये हैं। मन उन आवरणों में ही अपनी स्वरूप संज्ञा लेने लगा है। द्रव्य मन—यह एक तरह का द्रव्य होता है लेकिन इस द्रव्य मन की गति भी भाव मन के निर्देशन के बगैर नहीं होती है। मनुष्य उच्चारण करता है कि मैं परमात्मा के तुल्य हू लेकिन उसका वर्णन द्रव्य मन के आधार पर होता है। सही स्वरूप दर्शन तो आन्तरिक अनुभव के साथ जब भीतर की गहराई में पहुचते हैं तभी होता है और सही वस्तुस्थिति सामने आती है। इतनी आन्तरिकता में उतरते हैं कि जहां पहुच कर "जिन" के स्वरूप को उपलब्ध करते हैं और इसी बिन्दु तक पहुंचने पर "जिन" भगवान को वास्तविक वन्दन कर सकते हैं।

बात बहुत गहन है, अपने आपको आप इस गहनता की स्थिति में

कैसे ले जायेंगे ? एक छोटा-सा रूपक ले लीजिये। यह रूपक लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व का है। एक वृक्ष के नीचे एक पुरुष बैठा हुआ था। एक सामुद्रिक विज्ञान का ज्ञाता उधर से निकल रहा था। सामुद्रिक विज्ञान मे इस बात का वर्णन होता है कि शरीर के कौन-कौन से चिह्न किस-किस बात की सूचना देते हैं ? उस सामुद्रिक की दृष्टि जमीन की तरफ थी। जमीन पर उसको कुछ पैरों के चिह्न दिखाई पडे। वह हर्षित हो उठा। वे चिह्न किसी विशिष्ट पुरुष के पैरों के थे। वह चक्रवर्ती सम्राट भी हो सकता है—उसने सोचा। वह प्रसन्न हुआ कि यदि उसकी विद्या सही है तो आज मार्ग मे चक्रवर्ती सम्राट् से उसकी भेंट अवश्य होगी। उनके शरीर चिह्नों से और कुछ वह उनको बता देगा तो उसका भाग्य खुल जायगा।

वह सामुद्रिक प्रसन्नतापूर्वक आगे बढ़ने लगा। एकायक उसे विचार आया कि क्या चक्रवर्ती सम्राट् पैदल जायेंगे ? वे बिना वाहन के कैसे जा सकते हैं ? अब उसके मन मे सशय पैदा हुआ। खुले पैरों के चिह्न चक्रवर्ती के कैसे हो सकते हैं ? अब उसका मन डगमगाया और शका करने लगा कि क्या उसकी विद्या सही नहीं है ? यहा तक कि उसे वे पैरों के निशान किसी मामूली मजदूर के मालूम पडने लगे और उसकी इच्छा हुई कि वह अपने पोथी पत्रो को कुए मे फेंक दें। वह दुविधा मे फस गया।

उस वृक्ष के समीप वह पहुचा तो उसे वह पुरुष दिखाई दिया जो सादे वेश में फक्कड तबियत का लग रहा था। शरीर की आकृति आकर्षक, किन्तु गरीब घराने का मालूम पडता था। पास मे एक भिक्षा पात्र पडा था। उसने मन ही मन पहले देखे पैरों के चिह्नो से उसके पास जमे पैरो के चिह्नो का मिलान किया तो उसको ऐसा लगने लगा कि दोनों चिह्न एक जैसे हैं। उसे बड़ा पश्चात्ताप होने लगा कि उसने कैसे सामुद्रिक विज्ञान का अध्ययन किया है ? वह चिन्ताग्रस्त बन गया। उसकी चिन्तित मुद्रा को देखकर उस फक्कड़ ने आवाज दी—अरे तू चिन्तित क्यों है ? मेरे पास आ। उसने उत्तर दिया—तुम मेरी समस्या को क्या समझोगे ? तुम तो साधारण से भिखारी मालूम पडते हो। फक्कड ने गम्भीरता से कहा—क्या पता, समस्या का हल हो निकल जाय। आओ तो सही।

सामुद्रिक ने सारी बात पूरी तरह से समझा कर उस फक्कड को कही। फक्कड़ ने कहा—तुम्हारा चिन्तन सही दिशा में है। तुम्हारा यह अनुमान सही है कि ऐसे पदचिह्न वाला पुरुष चक्रवर्ती ही हो सकता है।

तुम्हारा सामुद्रिक ज्ञान इस अर्थ में गलत नहीं है। लेकिन वर्तमान की स्थिति को समझने में ही तुम भूल कर रहे हो। अपनी ओर संकेत करते हुए उस फक्कड़ ने आगे कहा—यह शरीर उसी क्षेत्र मे जन्मा था जहाँ चक्रवर्ती पद प्राप्त करने का अवसर था। लेकिन इस जीवन मे कुछ बोध हुआ, शरीर की बाहरी प्रकृति का ज्ञान लिया तथा भीतरी मन के विभिन्न आवरणों को समझने का प्रयास किया तो मुझे वह चक्रवर्ती सम्राट् का पद एकदम फीका लगने लगा। मैंने उसे पाने का उपक्रम छोड़ दिया और इस आध्यात्मिक जीवन की तरफ मुड़ गया। उस चक्रवर्ती पद को पाना मैंने अभीष्ट नहीं समझा मैंने सोचा कि इस आत्मा और मन पर पहले से ही कई पर्दे पड़े हुए हैं—फिर एक नया पर्दा और क्यो चढ़ाऊं ? इससे तो अच्छा यही है कि जो पडे हुए हैं उन्हीं पर्दों और आवरणो को उद्घाटित करू। वह समुद्र शास्त्र का विद्वान् उस फक्कड़ को आंखें फाड-फाड कर देखने लगा। विद्वान् ने पूछा—तुम कौन हो ? फक्कड ने कहा—इस शरीर के जन्म की दृष्टि से मैं शुद्धोदन का पुत्र हू—लोग मुझे बुद्ध कहते हैं। दोनों के बीच में तब काफी चर्चा हुई और चैतन्य स्वरूप आत्मा के सम्बन्ध मे चिन्तन चला।

कहने का अभिप्राय यह है कि जो मन के विभिन्न आवरणों को समझ जाता है, वह ससार के बड़े से बड़े वैभव का भी सहज भाव से परित्याग कर देता है, क्योंकि वह तो अविनाशी सुख-सम्पत्ति को पाना चाहता है। इसलिये वह मन के इन आवरणों का उद्घाटन करता है तथा शुद्ध चेतना का उसके परम शुद्ध स्वरूप मे दर्शन करता है।

आपको भी सुख-सम्पत्ति चाहिये ?
कैसी-नाशवान या अविनाशी ?

प्रार्थना मे यह चाहा गया है कि भगवान सुपार्श्वनाथ को वन्दन करने से सुख-सम्पत्ति मिले। मेरे सामने चाहे यह व्यक्त हो अथवा न हो, लेकिन अधिकांश लोगों के मन के अन्दर यही भावना चलती होगी। क्या इस सुख-सम्पत्ति को आप इस बाहर दिखाई देने वाली सुख-सम्पत्ति के रूप में देखना चाहते हैं ? तो समझिये कि यह एक गलत चाह होगी। इस सुख-सम्पत्ति को आज की भौतिक सुख-सम्पत्ति के रूप में न देखें। अपने मन में पहले यह निश्चय करें कि आप नाशवान सुख-सम्पत्ति को चाहते हैं या अविनाशी सुख-सम्पत्ति को ? यदि अविनाशी सुख-सम्पत्ति को चाहते हैं तो वह एक बार आपको मिल जाने के बाद सदा-सदा के लिये आपके हाथ में ही

रहेगी। ऐसी अवस्था में न चाहने पर भी नाशवान सम्पत्ति भी अविनाशी के पीछे पीछे छाया की तरह चलेगी। आपको ऐसे सुख-सम्पत्तिवान् विशिष्ट पुरुषों के चरित्र सुनने को मिले होंगे और उनसे आपको प्रेरणा मिलेगी कि वास्तविक सुख-सम्पत्ति की ही प्राप्ति की जानी चाहिये।

आन्तरिक चेतना जब सजग बन जाती है तो फिर यह बाहर की नाशवान सम्पत्ति मूल्यहीन दिखाई देती है। त्रिखण्डाधिपति श्री कृष्ण के भाई गजसुकमाल ने जागृत बन कर जब दीक्षित बनने का निश्चय किया तो किसी के भी कहने से वे रुके नहीं। उनमें उमंग समा गई कि इस नाशवान सम्पत्ति का घातक मोह छोड़ कर अविनाशी सुख-सम्पत्ति प्राप्त करने की दिशा में आगे बढना चाहिये ताकि वह सम्पत्ति कभी नष्ट नहीं हो और सदा काल के लिये आत्मा को आनन्दमय बनाये रखे। इस उमंग को जीवन्त बनाने वाली आत्माएं महान् और विशिष्ट स्थान को प्राप्त करती हैं।

आपको भी सुख-सम्पत्ति चाहिये और यह विश्लेषण करने के बाद तो आप भी यही कहेंगे कि हमको भी अविनाशी सुख-सम्पत्ति चाहिये। जिसका विवेक जग जाता है वह श्रेष्ठ वस्तु ही ग्रहण करना चाहेगा। आम को छोड़ कर जो निंबोली के पीछे भागता है, उसको दुनिया अक्लमंद नहीं कहती है। जिन आत्माओं ने अविनाशी सम्पत्ति को प्राप्त करने का संकल्प लिया है, वे एक के बाद एक आपके समक्ष उपस्थित हो रही हैं। अभी आप कुछ सुन गये—कुछ देख गये। क्या देखा? दुर्ग के अगुआ महानुभाव इस पवित्र कार्य की दलाली में लगे हुए हैं। दो वैरागिन बहिनें संसार के सारे लुभावने वायु-मंडल से ऊपर उठकर महावीर प्रभु के आध्यात्मिक अनुशासन में समर्पित होने को उत्सुक हैं ताकि वे अपनी आत्मिक साधना में तत्पर बन सकें। उनका आज्ञापत्र भी पढ़कर सुनाया गया है। सबके बीच में बोलने का इन बहिनों का शायद पहला ही अवसर होगा लेकिन उनके बोलने में कितनी संजीदगी थी? उनके भावों में कितना उत्साह था? समझिये कि वे अपने अभ्यास के साथ स्वस्थ जीवन निर्माण की इच्छुक हैं। नाशवान सम्पत्ति को वे छोड़ रही हैं और अविनाशी सुख-सम्पत्ति को प्राप्त करने की अभिलाषा से वे दीक्षित बन रही हैं। लेकिन आपको भी तो सुख-सम्पत्ति चाहिये न? आप भी इस दिशा में आगे बढ़ने के लिये कुछ न कुछ तो ठोस कार्य अवश्य कीजिये।

विकारपूर्ण वातावरण से मन को अप्रभावित बनावें :

अधिकांश मानव आज की भौतिक जीवन की दूषित प्रणाली में बह

रहे हैं। मैं समझता हूं कि थली प्रदेश मे तेज हवाए चलने के कारण रेती के कण काफी उड़ते हैं और धूलभरी आंधियां उठती हैं। रेत के टीवे के टीवे इधर से उधर उड जाते हैं। जैसी ये रेत की आंधिया चलती हैं, वैसा ही इस सासारिक जीवन का प्रसग है। चारो ओर तरह-तरह के विकारों की धूलभरी आंधिया चलती हैं। सिनेमाघरो से वासना का मन्धड निकलता है। कामुक साहित्य और जासूसी उपन्यासों के गन्दे नालें बहते हैं। इस विकारपूर्ण वातावरण मे कौन आत्मा कितनी उलझती है—कितनी रचती-पचती है, उसी आधार पर मन की थाह ली जा सकती है कि वह कितना उद्दंड है या कि कितना सधा हुआ? देखते हैं तो ज्ञात होता है कि अधिकांश तरुण-तरुणियां इस विकारपूर्ण वातावरण मे उलझी हुई हैं। कई-कई आत्माएं तो इस विकार के दलदल में इतनी गहरी धस जाती हैं कि उनका उससे बाहर निकल आना भी एक दुष्कर काय हो जाता है।

रेगिस्तान मे जो वृक्ष होता हैं, वे इन धूलभरी आंधियों को भी सहन करते हैं, किन्तु अपने स्थान से डिगते नहीं है। वैसे ही जो आत्माएं अपने चैतन्य स्वरूप को देखने और चमकाने के लिये सुदृढ़-सकल्पी बन जाती हैं, वे इन वृक्षो के समान अपने मन को सारे विकारपूर्ण वातावरण से अप्रभावित बना लेती हैं। यह जो कार्य है, वही मन की साधना है—मन को वश में करना है तथा मन को आत्मा के अधीन बनाकर आत्म-विकास के पथ पर चलाना है। समझिये कि एक अकेला मन सध जाता है तो सब कुछ सध जाता है—सारा जीवन सध जाता है और जब यह जीवन सध जाता है तो इहलोक के साथ परलोक भी सध जाता है।

आप इन बहिनो को देख रहे हैं—सत-सती वर्ग के दर्शन कर रहे हैं, जो साधनामय जीवन को लेकर चल रहे हैं। इनके जीवन उन वृक्षों के समान बन रहे हैं जो विकारपूर्ण आंधियो के प्रभाव से अविचलित बने रहने का अभ्यास कर रहे हैं। यह अभ्यास मन को साध लेने की दिशा में चल रहा है।

मन को साध, सब सधे,
सब साधे, सब जाय।

इस मानव जीवन में यदि एक अपने मन को स्वाधीन बना लेते हैं तो आशा की जा सकती है कि उस स्वाधीन मन के चरण पूर्णतः स्वाधीन आत्मा की मजिल तक अवश्य पहुचेंगे। एक लक्ष्य नहीं बनावें और चारों

ओर की प्रवत्तियो में लगें तो शायद है, यह उक्ति सच साबित हो जाय कि सब साधे, सब जाय । इसलिये आत्मिक साधना के माध्यम से जीवन की तह तक पहुचने का प्रयास कीजिये ।

यह साधुता का जो क्षेत्र है, वह एक तरह से जीवन की तह तक पहुचने की पाठशाला है । इसमे कौन-कौन प्रवेश कर रहे हैं ? ये सम्पतमुनि जी बैठे हुए है जो छत्तीसगढ क्षेत्र के मत्री थे और जिन्होंने अपने सासारिक जीवन मे भी धर्म-जागृति के बहुत कार्य किये, परन्तु अन्दर की जागृति आई तो ये इस पाठशाला में आ गये । मन तत्पर होता है तभी ऐसा हो सकता है और मन की तत्परता से ही मन सधता है ।

मन को साधने का आध्यात्मिक जीवन लोहे के चने चबाने के समान है, लेकिन इनको भी चबाने की साधना कर लेंगे तो ये लोहे के नहीं रहेंगे अमृत कण बन जायेंगे । मूल बात समझले कि मन को साधे सब सब सधे ।

दिनांक १०-८-७७

वन्दन और आत्मशुद्धि का तारतम्य

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए............

परमात्मा को वन्दन करने की दृष्टि से कवि ने इस प्रार्थना में वन्दन की बात कही है तथा साथ ही वन्दन की विधि मे सावधान रहने की महत्त्वपूर्ण बात बतलाई है। मनुष्य वन्दन कई बार करता है तथा कई जनों को करता है, लेकिन वन्दन करना मात्र ही पर्याप्त नही है। वन्दन करते हुए जिस आत्मिक पवित्र भावना तथा शारीरिक विनम्रता का विकास होना चाहिये, वह भावना और वृत्ति यदि परिलक्षित नही होती तो समझना चाहिये कि वैसा केवल बाहरी वन्दन जीवन के लिये लाभदायक नहीं बनता है।

इसी कारण वन्दन की बात जितनी महत्त्वपूर्ण है, उतनी ही महत्व-पूर्ण विधि विधान की बात है। उसमें सावधान रहने की विशेष आवश्यकता मानी गई है। वन्दन जब सही भावना तथा सही वृत्ति के साथ किया जाता है तो वन्दन करते समय ऐसा अनुभव होता है जैसे जीवन मे हलकापन आता जा रहा हो। अन्तस्तल की पवित्रता ढकी हुई होती है और अशुद्धि का ढक्कन होता है। वन्दन इस ढक्कन को उठाता है तथा पवित्रता उभर कर बाहर आ जाती है। वह पवित्रता ही वन्दन की वास्तविकता को प्रकट करती है। आत्मशुद्धि का तारतम्य ही वन्दन की तदनुसार विशिष्टता को अभिव्यक्त करता है।

अभिमान की अशुद्धि हटती है
वन्दन की विनम्रता से

अन्तस्तल की पवित्रता पर ढक्कन लगा रहता है मनुष्य के अहं तथा अभिमान का और यह अभिमान आत्मा की अशुद्धि का विशेष कारण होता है। मनुष्य अपने जीवन मे ज्यो ही समझ पकडता है, अभिमान की मात्रा किसी न किसी निमित्त को लेकर अंकुरित हो जाती है और जैसे जैसे शरीर तथा समझ की अवस्था बढ़ती जाती है, वैसे ही इस अभिमान की तरुणाई भी मनुष्य के अन्दर अंगड़ाई लेने लगती है। यहां यह भी कह सकते हैं कि मनुष्य अपनी

तरुणाई आने तक तो अभिमान की वृत्ति मे इतना अभ्यस्त हो जाता है कि क्षण-क्षण मे वह अपने अभिमान की परिभाषा से ही जीवन को आंकना आरभ कर देता है ।

मनुष्य अपने आत्मिक गुणो का विकास करे तथा उस विकास के आधार पर अपनी प्रतिष्ठा और कीर्ति की कल्पना करे तो वह दूसरी बात है, लेकिन देखा जाता है कि गुणो के विकास की बात तो ध्यान मे ही नहीं आती है, उससे पहले ही ध्यान मे यही आता है कि कैसे दुनिया मुझे पहिचाने, दुनिया मे मेरी नामवरी हो और दुनिया मे मेरी चतुराई की प्रतिष्ठा बन जाय। किसी भी स्थान पर मैं उपेक्षित नहीं किया जाऊ तथा सभी कार्यों में मेरा प्रभुत्व रहे । उस कल्पना के साथ वह आध्यात्मिक धरातल पर खडा होकर अपने जीवन का मूल्याकन नहीं करता है । वह यह देखने की चेष्टा नही करता है कि उसका आत्म स्वरूप कितना और क्यो अशुद्ध है तथा उसकी शुद्धि के क्या उपाय किये जा सकते हैं । बल्कि प्रपच की बातें सोचता है कि कुछ न कुछ करके किसी न किसी साधन से अपनी कीर्ति का वातावरण बनाया जाय। ऐसे विचार के कारण वह स्वय ही अपने आपको विशिष्ट व्यक्ति मानने लगता है तथा उस विशिष्टता को प्रत्येक स्थान पर दिखलाने की चेष्टा करता है । इन्हीं चेष्टाओं में अभिमान का उग्र स्वरूप उभर कर बाहर आता है तथा प्रत्येक व्यक्ति को जो उसके व्यवहार में आता है यह अहकार वृत्ति से कितनी कितनी कल्पनाए उठती हैं, इस का लेखा वह स्वय ही कर सकता है ।

ज्ञानी जन सकेत देते है कि यदि तू वस्तुतः अपने जीवन को पवित्र तथा अपने आत्म स्वरूप को निर्मल बनाना चाहता है तो सबसे पहले इस अहकार वृत्ति को दूर कर । अहकार वृत्ति के दूर हुए बिना सच्चा वन्दन नहीं हो सकेगा तथा सच्चे वन्दन के बिना विनम्रता का विकास सभव नही है ।

वन्दन का महत्त्वपूर्ण फल है आत्मशुद्धि का विस्तार

परमात्मा को अथवा अनान्य गुरुजनों को जो भावपूर्ण वन्दन किया जाता है, उसका यही महत्त्वपूर्ण फल माना गया है कि उससे आत्मशुद्धि का विस्तार होता जाता है । आत्मशुद्धि तभी होती है, जब मनुष्य अपने आत्म स्वरूप पर घिरे हुए कर्मों के आवरणों को तोडता है और कर्मों के मैल को दूर हटाता है । वन्दन का इतना महात्म्य माना गया है कि क्रूर से क्रूर कर्म भी भावपूर्ण वन्दन के प्रभाव मे दूर हट जाते हैं । यदि प्रति दिन परमात्मा को एव अन्यान्य

गुरुजनों को शुद्ध भाव से वन्दन करने का अभ्यास किया जाय तो समझिये कि हजारों और लाखों बार वन्दन करने का प्रसंग बन जाता है। इतनी बार वन्दन करने पर भी यदि किसी की आत्मा शुद्ध स्वरूप ग्रहण नहीं कर सके तो यह चिन्ता की बात कही गई है तथा यहां पर गहराई से उस अशुद्धि का कारण खोजने की आवश्यकता हो जाती है।

महावीर प्रभु ने अपनी समवशरण की देशनाओं में इस वन्दन का अमित महत्व प्रतिपादित किया है। एक बार की बात है कि भगवान् महावीर का समवशरण अनेक आदर्श त्यागी महात्माओं के भव्य संयोग से सुशोभित हो रहा था उस वक्त में मगध सम्राट् राजा श्रेणिक प्रभु का वन्दन करने के लिये पहुचे।

श्रेणिक एक ऐतिहासिक राजा है। जिनका इतिहास में भव्य तरीके से उल्लेख आता है। वे अपने राजकीय वैभव के साथ समवशरण स्थल के समीप मे पहुचे। सामान्यत सम्राट् के मन मे अपने राज्य का जो माननीय स्थान था, वह था ही और इसीलिये वे पूरे लवाजमे के साथ आये थे, लेकिन समवशरण स्थल के समीप मे आते ही श्रेणिक की आत्मा ने इस राजकीय वैभव के प्रति रहे हुए उस के अहकार को दबाने की चेष्टा की। उस समय में श्रेणिक की आत्मा ऊपर उठ गई तथा अहकार नीचे दब गया। इस स्थान से ही उन्होने भगवान् को वदन करने की विधि साधली। जितने भी अभिमान सूचक राजकीय दृष्टि से महत्वपूर्ण चिन्तन श्रेणिक के साथ में थे, उन सभी चिन्तनो को उन्होने उतार कर रख दिये यह समझ कर कि ये चिन्तन यहां धार्मिक क्षेत्र में बाधक रूप दिखाई देते हैं।

शास्त्रकारों ने मुनि दर्शन करते समय पाच प्रकार के अभिगम साधने का सन्देश दिया है। जब भी भगवान् के समवशरण मे अथवा भगवान् के अनुयायी सन्त सतियों के समीप में पहुचे तो उस समय अपने पास जितने भी अभिमान को दिखाने तथा बढाने वाले साधन या अन्य प्रकार के उपकरण हों, उनको उतार कर अलग रख देना चाहिये। यदि अपने पास कोई भी सचित्त पदार्थ पूरी इलायची आदि हो फूलमाला हो या अन्य कोई जीव युक्त पदार्थ हो तो उसको समवशरण या धर्म स्थान के बाहर ही निकाल देना चाहिये, हाथ में हिंसक शस्त्र लेकर भी भीतर नहीं जाना चाहिए। भीतर जाने का ज्यो ही उपक्रम किया जाय, त्यो ही उत्तरासन का प्रयोग कर लेना चाहिये—मुंह पर कुछ न कुछ आवरण रखने का अवश्य ध्यान रखा जाय। श्रावक को वदन करते समय उत्तरासन—एक कपड़ा मुंह पर लपेट लेना चाहिये और जहां से भी भगवान् के

दर्शन हो जाय, वहीं से उसको नतमस्तक होकर भीतर प्रवेश करना चाहिये। वन्दन है वह विनम्रता की साधना है तथा इसी विनम्रता से, अभिमान के परित्याग से आत्म स्वरूप की भव्य शुद्धि होती है।

अपना सारा बड़प्पन
वन्दनीय पुरुष के चरणो में रख दें

राजा श्रेणिक ने समवशरण में प्रवेश करते ही यह नहीं सोचा कि मैं इतना बड़ा सम्राट् हूं, भगवान् की विशिष्ट परिषद् में प्रवेश कर रहा हूं और इस तरह की सादगी की विधि अपनाऊंगा तो मेरी शान क्या रहेगी और लोग मुझको मेरे बड़प्पन की दृष्टि से क्या समझेंगे ? उन्होने तो एक ही ध्यान रखा कि कम से कम इस स्थान पर तो मुझे अपने अहंकार के सारे चिह्न उतार फेंकने हैं तथा अन्तर्मुखी दृष्टि के साथ मे आत्म शुद्धि के क्षेत्र में प्रवेश करना है। जहा पर आत्म शुद्धि की अभिलाषा होती है तथा धार्मिक पवित्रता का वातावरण होता है, वहा सारा बाहरी वैभव तथा उसका समस्त आडम्बर उसके पीछे तुच्छ दिखाई देने लगता है।

बाहरी वैभव तथा बाहरी शान शौकत की वस्तुएं इस संसारी आत्मा को बहुत ही रमणीय तथा मनोहर दिखाई पडती हैं लेकिन ये सारी वस्तुएं आध्यात्मिक जीवन की तुलना मे मूल्य हीन तथा सार हीन होती हैं। जो व्यक्ति किसी के बाहरी वैभव तथा आडम्बर को देखकर उसके प्रभाव को मानता है समझ लीजिए कि उस व्यक्ति ने अपने आन्तरिक जीवन का स्पर्श नहीं किया है तथा वह इस विकार पूर्ण सांसारिकता को ही महत्त्वपूर्ण मानकर चल रहा है। वह बहिरात्मा है, उसने अन्तरात्मा में प्रवेश नही किया है। लेकिन जिसका ध्यान बाहरी वस्तुओं से हटकर अपने अन्त:करण मे प्रवेश करता है, वह दूसरो की भी अन्तःकरण की ही महिमा को सर्वोपरि मानता है। वह अपने आन्तरिक स्वरूप को विशुद्ध बनाने की युक्ति करता है तो दूसरो के भी आन्तरिक विकास में यथासाध्य योग देने मे सदैव तत्पर बना रहता है।

जैसे ही मगध सम्राट् श्रेणिक समवशरण में पहुचे, वैसे ही वहा पर बैठे हुए श्रोतागणों के नेत्र श्रेणिक को देखने के लिये मुड गये। वे नेत्र इसलिये नहीं मुडे कि श्रेणिक जैसे महान् सम्राट् का वैभव कैसा है, बल्कि इसलिये मुड़े कि इतने बडे सम्राट् का हृदय विनम्र कितना है ? सब एक ही ध्यान लगाकर देखते रहे कि इतना बड़ा सम्राट् भगवान् के समवशरण में आया है तो यह किस प्रकार की विधि से भगवान् को वन्दन करता है ? वे समझते

थे कि जब एक श्रद्धावान् भगवान् की सेवा में उपस्थित होता है तो वह अपना सारा बडप्पन वदनीय पुरुष के चरणो मे रख देता है।

सम्राट् ने समवशरण के भीतर पाँव रखते ही वन्दन की विधि अपनाई तथा अपने विनम्र एव मृदुल आत्मीय भावो के साथ भगवान् के सामने झुक गये। वे अपने सम्पूर्ण वैभव के ध्यान तक को भूल गये। उनकी आकृति पर यही अनुभाव व्यक्त हो रहा था कि उनकी अन्तर्चेतना प्रभु के दिव्य स्वरूप के समक्ष नतमस्तक हो गई है। वह लालायित दिखाई देती है कि प्रभु की परम पवित्रता उसकी आन्तरिकता में भी प्रवेश करे। उनका वन्दन इस रूप में परिलक्षित हुआ जैसे वे अपनी आत्मा का सम्बन्ध परमात्मा की आत्मा के साथ जोड रहे थे। वह उनका भावपूर्ण वदन था। उन्होने सावधानी पूर्वक जिस पाठ से वन्दन करना चाहिये उस पाठ के साथ उठ बैठ कर भगवान् के आगे झुक कर वन्दन किया। उन्होंने अपने समूचे बडप्पन को भगवान् के चरणों मे उस समय समर्पित और विसर्जित कर दिया था।

वन्दन का कार्य दीखने मे सरल
किन्तु करने मे अत्यन्त कठिन

सम्राट् अपने अन्तःकरण में जिस भावना को लेकर वन्दन कर रहे थे, उसका अति स्पष्ट स्वरूप तो प्रभु महावीर ही जान रहे थे, लेकिन सारे श्रोता उस वन्दन की विधि से तथा वन्दन के सुन्दर भावो से परिपूर्ण रूप मे प्रभावित हो रहे थे। उनका वह वन्दन का स्वरूप सहज ही मे फलित होने जैसा था। श्रेणिक की अन्तरात्मा मे यह विचार श्रेणी चल रही थी कि जिस प्रकार महावीर प्रभु ने इस आत्मघाती अहकार और उसके दुर्गुणों से भरे हुए परिवार को समूल नष्ट किया है, वे भी उसी रूप मे अहकार के घातक असर को समझें तथा उसको नष्ट करने की दिशा मे आगे बढें। उन्होंने महसूस किया कि ये सन्त जन जो भगवान् के साथ विराजे हुए हैं, वे भी इसी मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं। इनकी आन्तरिकता में भी साधना का वही सूत्र है। ये सन्त जन भी जिस साधनास्तर तक पहुच गये हैं, उस स्तर से मैं बहुत–बहुत नीचे हू। इन सन्त जनों ने भी अपने सारे वैभव और परिवार का परित्याग किया है और अपने नाक के श्लेषम के समान निर्ममत्व होकर छोड दिया है। ये सब अकिंचन बनकर अपने समग्र विकारों को नष्ट करने के उद्देश्य से प्रभु के चरणों मे शिष्य भावना से समर्पित होगये हैं। इनकी आत्माए भी महान् हैं, उन्होने उन महान् आत्माओ के चरणो मे भी विधिवत् वन्दन किया। इस प्रकार की आदर्श भावना को अपने अन्तःकरण मे सजोकर श्रेणिक महाराज एक–एक

सन्त और एक-एक सती को बिना थके बिना घबराये विधिपूर्वक वन्दन करते हुए चले गये।

यह ध्यान मे रखिये कि वन्दन का यह कार्य दीखने और कहने मे जितना सरल है किन्तु करने में अत्यन्त कठिन होता है। इसमे सम्पूर्ण शरीर ही नहीं झुकता है बल्कि समग्र आत्मा झुक जाती है। इस में भी कहा महान् ऋद्धि सिद्धि का स्वामी सुकुमार शरीर वाला सम्राट् और कहा छोटे छोटे सन्त सतियां, लेकिन सम्राट् की विनम्रता मे तनिक भी न्यूनता नहीं थी। इस विषय का अनुभव आप अपने जीवन में भी आप भी करिए। कभी धर्मस्थान मे पहुचते हैं और वन्दन भी करते हैं, लेकिन आप अपने वन्दन के भावो की-वन्दन की विधि की श्रेणिक के इस वन्दन के साथ तुलना करके तो देखिये। शायद मैं गलत नहीं कहता हूं कि आप वन्दन करने मे भी मुंह देखकर तिलक निकालते होगे। यह आपकी भाषा है मुंह देख कर तिलक निकालने की कहावत का अर्थ आप समझते होगे। आप शायद अन्दर की भावना को कम देखते होंगे और मुंह को ज्यादा देखते होंगे। ये महाराज बडे हैं तो इनको वन्दन ठीक तरह से करें और छोटे मुनियों के सामने से यों ही सिर हाथ हिलाते हुए निकल जाएं। जैसे भैरू जी को धोक देते हैं, वैसे ही वन्दन कर देते हैं।

शायद इस बात का ध्यान आपको कम है कि यह वन्दन किसलिये है? क्या महाराज को खुश करने के लिये वन्दन करते हैं या वन्दन का अभिप्राय अपनी ही आत्मा शुद्धि से जोड़ते हैं? इस कारण जब तक वन्दन के मूल महत्व को नहीं समझ लेंगे तब तक वन्दन की क्रिया के सम्बन्ध मे असावधानी को नहीं हटा पायेंगे। वन्दन करने के पहले आप इन्तजार करते हैं कि महाराज उधर मुह फेरे और दया पालो कहें तब वन्दन करें। इस वृत्ति में ध्यान रखें कि आपका अहकार बोलता है। मतलब यह है कि पहले महाराज दया पालो कहे याने कि वे आपको बतलावें तब आप उनको वन्दन करें। वन्दन से तो अपने को अपनी आत्मा शुद्ध करने की भावना रखनी चाहिये—च हे महाराज देखें या नही देखें, बोल या नहीं बोलें। क्या जब आपको प्यास लगती है, तब कोई घरवाला आपको पानी पीने को कहे और पानी लावे, तभी पानी पीते हैं या बिना कहे ही पी लेते हैं? पानी से प्यास बुझानी है वैसे ही वन्दन से आत्म शुद्धि करनी है—यह खयाल मे रखें।

वन्दन का मूल प्राण,
आत्मशुद्धि का लक्ष्य

यदि आत्म शुद्धि के आध्यात्मिक लक्ष्य के प्रति सच्चाई है तो त्यागी

जन हमारी तरफ देखे या न देखे, दया पालो कहे या न कहे, हमे ये कुछ भी विचार नहीं करते। उत्कृष्ट श्रद्धा और भक्ति के साथ उन्हे वन्दन, नमस्कार करना चाहिये। आपकी की गयी वन्दना कभी भी खाली नही जाने वाली है। आपको अवश्य ही उसका लाभ प्राप्त होगा। कोई देख रहा हो, या न देख रहा हो। यदि आप मिठाई खा रहे है तो आपका मुह अवश्य मीठा होगा (देखने या न देखने का उस पर कोई असर नही होने वाला है। मीठाई है तो वह मीठी ही लगेगी) जैसे ही हमने श्रद्धायुक्त सम्यक् विधि के साथ गुणीजनो को वन्दन किया है तो वह हमे लाभदायक होगा ही। इसमे किसी भी प्रकार का सदेह नही किया जा सकता।

किसान भूमि मे बीज बोता है, उसकी सिचाई करता है, उसका सरक्षण करता है तो एक न एक दिन वह बीज अकुरित होकर फलवान बन जाता है। यह विश्वास कृषक अपने दिल मे लेकर चलता है। वैसे ही हमारी वन्दनादि की क्रिया हमे एक न एक दिन पूर्ण फल देने वाली होती है। यह विश्वास सदा के लिए भव्यात्माओ को लेकर चलना चाहिये। वर्तमान मे वन्दना की विधि भी कुछ विचित्र प्रकार की सी होती चली जा रही है। कई व्यक्ति शिष्टाचार के नाते हाथ जोड लेते हैं, तो कई व्यक्ति उससे कुछ आगे बढकर महाराज के पैरो के हाथ लगा लेते हैं। अगर कोई वन्दना भी करेगा तो थोडा आगे से झुक जाता है, पीछे का भाग पूरा झुकेगा ही नही। यदि झुक गया तो घुटने टेककर शास्त्रीय विधि के अनुसार वन्दन करने वाले भाई तो विरले ही परिलक्षित होगे। वन्दना का यह विकृत रूप आत्मशुद्धि व विनम्रता का परिचायक नही माना जा सकता। बल्कि कभी-२ तो ऐसा लगने लगता है कि वन्दना करने वाला भाई वन्दना करके जैसे महाराज पर कोई बहुत बडा अहसान कर रहा हो।

विचार करिये—शास्त्रकारो ने सत-मुनिराजो के विषय मे बतलाया है—

"पूयणट्ठा जसोकामी-माण सम्माण कामश्रो।
बहुंपसवई पाव-माया सल्लं च कुव्वई॥"

यदि मान-सम्मान के लिए माया का सेवन करता है तो वह बहुत पापार्जन करता है।

पूजा, यश, मान, सम्मान की झूठी कामना करने वाला बहुत पापकर्मो का करने वाला होता है। इसलिए वह माया पूजार्थी (पूजा चाहने वाला) माया करता है उसके लिए है—"वदिमा न समुक्कसे" वन्दना करने वाला सामायिक ता

मान-समान की कामना नहीं करता है, न ही वह आपके वन्दना की इच्छा ही करता है (कि आप उसे वन्दन करें) । वह तो इन सारी ही उपाधियो से ऊपर उठकर आत्मा मे रमण करने वाला होता है । पर उनको निमित्त मान-कर अपनी आत्मा का कल्याण करने वाले भावुक भक्तो को भक्ति एव वदना के लिए सम्यक् विधि का ध्यान रखना आवश्यक है ।

आग तो अपने ढग से प्रज्वलित है, उस पर रोटी कैसे पकानी है, यह विज्ञान महिला को होना जरूरी है । उसके सही बोध से ही वह रोटी को सही तरीके से पका सकती है । वैसे ही वन्दना की विधि का ध्यान प्रत्येक भव्य आत्मा को होना आवश्यक है । विशुद्ध भावों एव सम्यक् विधि से की गयी वन्दना श्रेणिक की तरह आज भी फलप्रदायी बन सकती है ।

अधिकाश जनसाधारण मे किसी के गुणों का मापदड धन ही अधिक देखा जाता है । जिसके पास धन अधिक हो, चाहे वह किसी भी प्रकार से अर्जित किया गया हो, उस व्यक्ति का मान-सम्मान अधिक किया जाता है । (गृहस्थ) इसी दृष्टि से कभी-२ साधु-सन्तों को भी देख लेते है, और उनका मान-सम्मान भी वह उसी रूप से करते है । जो साधक धन की दृष्टि से किसी उच्च घराने से निकला हो तो उस धनलक्षी (गृहस्थ) की दृष्टि मे उसका महात्म्य ज्यादा होता है और जो गरीब घराने से निकला हो, उसका महात्म्य वे लोग कम समझते हैं ।

ऐसा ही कुछ वर्णन ऐतिहासिक पृष्ठो पर (अभय कुमार को लेकर) पढने को मिलता है । बतलाया जाता है कि एक समय अभय कुमार जब हाथी पर बैठकर नगर प्रवेश कर रहे थे तो सामने एक नवदीक्षित अनगार आते हुए दिखलाई दिये । उन्हे देखकर उनकी भावना उमडी और (श्रद्धा-भक्ति के साथ) उन्हे वन्दना करने के लिए हाथी को रुकवाया नीचे उतर कर मुनिराज के सामने गये और बडी भक्ति के साथ उन्हे वन्दन-नमस्कार किया । फिर उनके आगे बढ जाने पर अभय कुमार हाथी पर बैठकर वहा से आगे बढे । अभय कुमार की यह प्रक्रिया पास के सभी उमराव-सरदार अधिकारी देख रहे थे । उन्हे यह सब देखकर बडा आश्चर्य हो रहा था और बुद्धि के निधान अभय कुमार की बुद्धि पर उन्हे तरस भी आ रही थी, वे सोचने लगे कि क्या आज अभय कुमारजी की बुद्धि को काठमार गया है ? कहा तो ये मगध सम्राट श्रेणिक के पुत्र राजकुमार और ऊपर से (उसी जनपद के प्रधानमत्री) सूझ-बूझ के धनी, ऋद्धि-समृद्धि के अन्दर जीने वाले प्रधानमत्री अभय कुमारजी और कहा यह साधु । जो कल तक एक लकडहारा था । जगल से लकडिया काट-

कर गट्ठर बांधकर शहर मे लाकर उन्हें बेचता, और उसमे जो मिलता उसी से अपना एव अपने परिवार का पालन-पोषण करता था। यह गरीव लकडहारा साधुओ की सगत मे आकर साधु बन गया तो इसका यह तो मतलब नही कि यह एक दिन मे ही इतना वन्दनीय-पूजनीय हो जाय कि मगध का प्रधानमंत्री भी उन्हें वन्दन-नमस्कार करें। इसी सोच-सोच के साथ उमरावो के चहरे पर अभय कुमारजी की वन्दन विधि के साथ ही एक भेदभरी मुस्कराहट फैल गयी। जो अभय कुमारजी से छिपी नहीं रह सकी। उन्होंने इस बात को समझने के लिए फिलहाल उपयुक्त अवसर नही देखा। सोचा इन्हें प्रायोगिक रूप से ही यह बात समझानी होगी।

एक दिन सभा के वीच अभय कुमार ने रत्न राशि के तीन ढेर करवाये, और उपस्थित सभी उमरावो, सरदारो को सम्बोधित करते हुए कहा कि—जो व्यक्ति निम्न तीन प्रतिज्ञाओ को जिन्दगी भर के लिए स्वीकार करता हो, उसे यह तीन रत्न राशि के ढेर दे दिये जायेंगे। वे तीन प्रतिज्ञाए ये हैं—

(१) जिन्दगी भर तक पूर्ण रूप से अग्नि का आरभ-समारभ नहीं करना।

(२) जिन्दगी भर तक पूर्ण रूप से (सचित्त) कच्चे पानी का आरभ नही करना।

(३) जिन्दगी भर तक पूर्ण रूप से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना।

आप मे से कितने व्यक्ति इन तीन प्रतिज्ञाओ को लेने के लिए तैयार हैं? वे आगे आवे और प्रतिज्ञा कर यह रत्न राशि ग्रहण करें। पूरी सभा स्तब्ध रह गयी, एक भी व्यक्ति इस बात के लिए तैयार नही हुआ। तब अभय कुमार ने कहा कि—अगर इन तीन में से भी कोई एक प्रतिज्ञा को भी ग्रहण करने के लिए तैयार हो तो उसे रत्न राशि का एक ढेर दे दिया जायेगा। पर इसके लिए भी कोई तैयार नहीं हुआ। तब प्रधानमंत्री अभय कुमारजी ने सभी को ललकारते हुए कहा—हे उमरावो! सरदारो क्या एक भी वीर ऐसा नही जो इनमें से एक भी प्रतिज्ञा को ग्रहण कर सके। फिर भी जब कोई तैयार नही हुआ। तब प्रधानमंत्री ने समझाया कि जब मैं उन मुनिराज को वन्दन कर रहा था। तब आपका मन ही मन हसी आ रही थी। आखिर क्यों?

इसीलिए कि कल यह दर-दर का भिखारी लकडहारा था, और आज

महाराज वन गया तो उसे क्या प्रणाम किया जाय ? उसके पास था ही क्या ? जो उसने छोडा है, और हम उसके त्याग को नमस्कार करे ।

पर विचार करिये मैंने जो तीन प्रतिज्ञाए आपके सामने रखी, जिनको ग्रहण करने वाले व्यक्ति को यह रत्न राशि देने के लिए तैयार हो गया, तथापि उन्हे कोई ग्रहण नही कर सका । जबकि उन मुनिराज जो कल लकड-हारे के रूप मे थे उसने ये तीन प्रतिज्ञा ही नही । वल्कि अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह को पूर्ण रूप से पालन करने की तीन करण, तीन योग से प्रतिज्ञा ले रखी है । उसके सामने यह रत्न राशि के ढेर भी नगण्य है । बोलिये उन का त्याग कितना बडा है, महान है ?

तब समझ मे आया उन उमरावो को । अभय कुमार की बुद्धि से तो वे प्रभावित हुए ही, साथ ही उन मुनिराज के प्रति जो उनके मन मे हीन भावना उभरी थी, वह भी श्रद्धा के रूप मे परिवर्तित हो गयी ।

उदाहरण भले कोई भी रूप मे घटित क्यो न हुआ हो, हमे कलेवर की खींचातानी मे न उतरकर यह समझना है कि साधु का त्याग इतना महान त्याग होता है कि उसके सामने गृहस्थ की विशाल ऋद्धि-समृद्धि भी नगण्य है।

ऐसे त्यागी महापुरुषो को भावयुक्त वन्दन नमस्कार करने से पुण्यवन्ध के साथ कर्मों की विशिष्ट निर्जरा भी होती है । निर्जरा का यह रूप आगे बढता हुआ सदा-सदा के लिए अनादि अनतकाल के कर्म-वन्धन को हटाकर परमात्म रूप को जागृत करने वाला बन जाता है ।

जैन दर्शन मे भक्त-भक्त ही रहेगा और भगवान-भगवान ही रहेगे । इस बात को कभी भी मान्यता नही दी है । वहा तो भक्त को भगवान वनने का सबल प्रदान किया है । भक्त सच्चे मन से प्रभु की उपासना करता है तो एक दिन वह भी उसी के अनुरूप बन जाता है, जैसा कि दोहे मे बतलाया जाता है—

सिद्धा जैसो जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय ।
कर्म मैल का आन्तरा; बूझे विरला कोय ॥

उस कर्म मैल के अन्तर को काटने के लिए ही उन महापुरुषो की वन्दना, उसका प्रथम चरण है । उस वन्दना को सही तरीके से करने

के लिये अन्त करण की जागृतिपूर्ण तैयारी होनी चाहिये ।

वन्दन को कसौटी पर कसते रहिये,

मैं आपके समक्ष क्या कुछ कहूं ? कहने की इच्छा और कुछ थी लेकिन प्रार्थना वन्दन मे पूरी नहीं हुई थी इसलिए आपके सामने वन्दन की बात तथा उसके प्रतिपक्षी तत्व अहकार की बात कर गया । वन्दन करते हुए व्यक्ति यदि यह सोचता है कि मैं वन्दन करके महाराज का मान बढा रहा हू तो वस्तुत, वह वन्दन नही कर रहा है । उस वन्दन मे वास्तविकता तभी आ सकेगी, जब आप महात्मा के सद्गुणी जीवन को देखकर श्रद्धापूर्वक प्रभावित बनेंगे तथा अपने अन्दर रहे हुए विकारो को बाहर निकाल कर अन्त करण को शुद्ध बनाते हुए विनम्रता पूर्वक वन्दन करेंगे ।

वन्दन को अपनी आन्तरिक भावना की कसौटी पर नित प्रति कसते रहिये और अपनी आत्म शुद्धि के तारतम्य को देखते रहिये, उससे ज्यो–ज्यो आपके भीतर बैठा अहकार गलता जायेगा, त्यो-त्यो वन्दन अधिकाधिक भावपूर्ण बनता जायगा, आत्मा मे स्वच्छता, निर्मलता, तथा पवित्रता का समावेश होता जायगा । इससे कर्मो के समूह टूटते चले जायेंगे और तब आत्मा के लिये किसी दुविधा का प्रसग नही रहेगा । उसका विकास सुनिश्चित हो जायगा ।
३१–८–७७

आकाश और इच्छाओं का अन्त नहीं

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए ..

इस जीवन की शुभ वेला मे शुभ कार्य की महत्ता रही हुई हे। मनुष्य का जीवन यह ऐसा वैसा जीवन नही है—सारी सृष्टि के सार तत्त्वो मे से एक है। इस जीवन की महत्ता ज्ञानीजन ही आक सकते हैं। उनकी दृष्टि दीर्घ, विशाल तथा व्यापक होती है। वे सारी सृष्टि के भीतर रहने वाले जीवो को देखते हैं, उनकी अवस्थाओ तथा प्रवृत्तियो की समीक्षा करते हैं एव तब निर्णय लेते है कि सारे जीवनो मे कौनसा जीवन सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण माना जाना चाहिये ? उनकी दृष्टि मे जीवन ऐसा होना चाहिये, जिस जीवन मे उचित एव अभिवाछित फल की प्राप्ति की जा सके। इस दृष्टि से मानव जीवन को सर्वश्रेष्ठ जीवन माना गया है।

यह अभिवाछित फल क्या और क्यो ? इच्छा के अनुसार फल को क्या किसी सीमा मे बाधा जा सकता है ? कारण इच्छाओ का कोई अन्त नही होता है। महावीर प्रभु ने इच्छाओ को आकाश के समान अनन्त बताया है। जिस तरह आकाश का अन्त नही आता—उसका किनारा कोई देख नही पाता, उसी तरह इच्छाओ का भी अन्त नही आता है, क्या इतनी अनन्त इच्छाओ के पीछे मानव दौडता रहे या उन इच्छाओ पर अपना नियन्त्रण स्थापित करे ?

ये अनन्त इच्छाएं होती है नाशवान पदार्थों के सम्बन्ध मे

इस जीवन मे की जाने वाली इच्छाओ का कोई अन्त नही, कोई ओर छोर नही और कोई किनारा नही। ऐसी अनन्त इच्छाओ मे जब इन्सान उलझ जाता है या डूब जाता है तो वह कही का नही रहता न इधर का न उधर का। जिन इच्छाओ को आकाश के समान अनन्त बताया हे, वे इच्छाए नाशवान पदार्थों के प्रति रुचि से सम्बन्ध रखती हैं, ये इच्छाए दृश्य तत्त्वो को प्राप्त करने की होती हैं ताकि अमुक वस्तु की उपलब्धि हो जाय तो तृप्ति मिल

जाय । इस रूप मे अनेकानेक इच्छाए इस मनुष्य के मन मे पैदा होती हैं और उन इच्छाओ की पूर्ति हेतु वह अपने इस अमूल्य जीवन को समाप्त कर देता है ।

इच्छित वस्तु के प्रति उसकी लालसा भभक उठती है । वह सोचता है कि जब तक वह वस्तु प्राप्त नही हो जायगी, वह उसके सम्बन्ध मे चाहे सही ढग से और नही तो गलत ढग से भी प्रयत्न करता रहेगा । वह इच्छा इतना प्रबल रूप ले लेती है कि उसकी पूर्ति मे फिर गलत और सही का भेद नही रहता है, नीति और अनीति का विचार गौण हो जाता है । किसी भी प्रकार जब वह इच्छा पूरी हो जाती है तो उससे वह सन्तुष्ट नही होता है । एक के बाद एक करते हुए नई-नई इच्छाए जन्म लेती रहती हैं । इच्छाओ की पूर्ति से इच्छाए समाप्त नही होती, बल्कि इच्छाओ का क्रम और दौर बढता जाता है ।

आप इच्छाओ के इस उद्दाम क्रम को सामान्य जन के जीवन मे, बल्कि कई बार अपने ही जीवन मे देख सकते हैं तथा अपने विषय मे तो स्वस्थ विचारणा के साथ अनुभव भी ले सकते है । किसी व्यक्ति के जब तक सतान का जन्म नही होता है, तब तक तो इच्छा यह रहती है कि कोई सन्तान प्राप्त हो । उस इच्छा पर उसका ध्यान केन्द्रित रहता है । लेकिन जैसे ही सन्तान की पूर्ति हुई तो उसकी इच्छा आगे बढ जाती है और वह सोचता है कि इस सन्तान का लालन पालन करू, उसकी विवाह शादी करू तथा उसको सम्पत्ति कमाने के योग्य बनाऊ । इसके लिये वह उस प्रकार के साधन जुटाता है । इस प्रकार से उसकी इच्छाए पनपती रहती हैं जब वह सन्तान को अपने व्यापार धंधे मे योग्य बना देता है तथा उसका विवाह कर देता है तो आप जानते ही हैं कि आगे कौन-सी इच्छा पैदा होती है ?

आप अपनी भाषा मे क्या बोलते हैं—पोता ? तो उस पौत्र का मुह देखने की इच्छा जागती है । यदि पौत्र का मुह देख लिया तब भी इच्छा क्या रुकती है ? वह फिर चाहता है कि उस पौत्र का विवाह हो जाय [illegible] और उसके भी सन्तान हो जाय याने कि परदादा बनने की इच्छा पैदा हो जाती है । [illegible], रुक रही हैं न इच्छाएँ ? आप [illegible] इच्छा है ? [illegible] ही क्या [illegible] ? [illegible] ही इच्छाएँ चलती रहती है । [illegible] इच्छाओ की समाप्ति तब कहाँ होती है ?

लेकिन यदि नाशवान पदार्थों के सम्बन्ध मे कल्पना करे कि सभी इच्छाएँ पूरी होती रहें, तब भी क्या इस मन को कभी भी सन्तोष होगा ? आकाश अनन्त इच्छाएँ अनन्त और मन की तृष्णा अनन्त - इनका अन्त एक सन्तोष करता है, वह सन्तोष जो आध्यात्मिक तत्त्व को समझ लेने के बाद पैदा होता है ।

इच्छाओं के मूल को पकड़ें,

इस महत्त्वपूर्ण सूत्र को पकडे कि आखिर ये सारी इच्छाएँ कहाँ से उठती हैं ? इससे इन सारी इच्छाओ के मूल का ज्ञान हो सकेगा । यह ज्ञान आप उन्ही इच्छाओ से ले जिनके साथ आप अभी सम्बन्धित बने हुए हो । उन इच्छाओ के मूल को यदि आप विवेकपूर्वक समझ लेंगे तो प्रयत्न करते हुए उन सभी इच्छाओ को समाहित भी कर सकेंगे । आप इच्छाओ के मूल पर ही प्रहार करना चाहेंगे और यदि आपका वह प्रहार सबल बन गया तो आपको एक ऐसे अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होगी, जिस आनन्द का अनुभव इन वाह्य पदार्थों मे कभी भी नही हो सकता है । यह आन्तरिक आनन्द होता है जो आन्तरिक उपलब्धि के प्रसग से ही प्राप्त हो सकता है ।

ऐसा अनिर्वचनीय आनन्द ससार के दृश्यमान तथा नाशवान पदार्थों की उपलब्धि से कदापि प्राप्त नही हो सकता है । पत्थर की गाय की मूर्ति के स्तनो से यदि कोई दूध निकालना चाहे अथवा उन स्तनो को मुह मे लेकर दूध का मधुर स्वाद लेने की इच्छा रखे तो बताइये कि क्या उसकी इच्छा पूरी हो सकेगी ? क्या उस गाय को दूहने से दूध निकल सकेगा ? और यदि दूध ही नही निकलेगा तो दूध का स्वाद मिलने का तो प्रश्न रहता ही कहा है ? जिसके मूल मे दूध नही होता है, उसमे कोई भी मन्त्रवाद या तन्त्रवाद दूध नहीं ला सकता है । किन्तु जिसके मूल मे दूध होता है तो व्यक्ति बाहरी प्रयत्नो से दूध की मात्रा को घटा बढा सकता है— दूध को नये सिरे से पैदा नही कर सकता है ।

जैसे पत्थर की गाय के स्तन मे दूध पैदा करने की शक्ति किसी मे नही है वैसे ही यदि कोई व्यक्ति इन सासारिक पदार्थों मे से आनन्द का रस लेना चाहे तो उनमे से उसको कोई रस नही मिलेगा । जो कुछ भी रस मिलता है वह जिसमे रस होगा उसी मे से मिलेगा । वास्तविक स्थिति तो यह है कि मनुष्य अपनी ही भावना को पदार्थ मे भर कर देखता है और आनन्द का आभास लेता है । वह उस आभास मे स्वय के जीवन की स्थिति को नही

लेता है। आपने देखा होगा, एक कुत्ता सूखी हड्डी को मुह मे लेकर चबाना करता है। वह उसमे से खून चूसने की इच्छा रखता है, लेकिन क्या उसको उस सूखी हड्डी से खून मिलता है? सूखी हड्डी से तो खून नही मिलता, लेकिन उस सूखी हड्डी को चबाते रहने से उसी के जबड़ो से खून निकलता है और वह उस खून का स्वाद लेते हुए यह समझता है कि उसको खून हड्डी से मिल रहा है।

इसे झूठी सुखद भ्रान्ति कह लीजिये या झूठा सुखाभास, लेकिन सोचिये कि ऐसी भ्रान्ति और ऐसा आभास क्या उस कुत्ते के पास मे ही है अथवा मनुष्य के पास मे भी है? शायद है, मनुष्य के पास मे इसका भण्डार ज्यादा है, क्योंकि आकाश के समान उसके पास मे अनन्त इच्छाए हैं। मनुष्य भी आत्मानन्द से विहीन बना हुआ इस ससार के बाह्य पदार्थों की सूखी हड्डियो को चबाता है और अपने आत्म स्वरूप की क्षति करता हुआ आनन्द मानता है। उसका यह आनन्द पत्थर की गाय के दूध के स्वाद के समान कोरी कल्पना और झूठी कल्पना का ही आनन्द होता है। उसका वही अज्ञानी मनुष्य आनन्द मानता है, जो आनन्द की वास्तविकता को नही समझता है।

आदतो का अन्त ज्ञान से, इच्छाओं का अन्त ध्यान से :

जिस प्रकार एक कुत्ता अज्ञानतावश अपने ही खून को हड्डी का खून समझ कर झूठा आनन्द लेता है, वैसी ही इस ससार के प्राणियो की भी दशा है, बल्कि यो कहें कि दुर्दशा है। कुत्ता पशु होता है लेकिन उसमे भी आत्मा होती है। आज के मनुष्य की आत्मा भी कभी कुत्ते की पशु योनि मे रही हुई हो सकती। [illegible] आत्मा कुत्ते के तन को छोड़कर मनुष्य के तन मे आ गई, लेकिन [illegible] के स्वभाव को सर्वथा छोड़कर आई है—[illegible]। [illegible] मनुष्य शरीर है लेकिन इस शरीर मे भी [illegible] पुष्ट हो सकता है। इस मनुष्य शरीर मे [illegible] हो सकता है जो आप [illegible] के [illegible] पुष्ट [illegible]; क्योंकि [illegible] ऐसी योनि है जिसमे यह आत्मा [illegible] हो।

[illegible] विज्ञान [illegible] सम्बन्ध मे कुछ अनुसधान [illegible] दर्शाया,

लेकिन ज्ञात और अज्ञात मस्तिष्क की स्थिति तक ही उनकी दृष्टि जा सकी वे आगे नही बढ सके । जबकि तीर्थंकरो ने इस विषय की तह तक गोता लगाया और यह ज्ञात किया कि उस आत्मा ने जिस जिस जन्म में जिस जिस रूप में जिन जिन आदतो को ग्रहण की है, वे आत्म स्वभाव के साथ बध जाने वाली आदते सही श्रद्धा तथा सही ज्ञान के बिना जन्म जन्मान्तरो तक छूटनी नही हैं । जिन आदतो की यह आत्मा अभ्यस्त रही है, उन उन आदतो का पुट मनुष्य के इस जीवन में दृष्टिगत होता है ।

देखिये जिस वक्त सर्प अपनी सर्प योनि के स्वभाव की दृष्टि से गुस्सा करता है तो किसी के पीछे तेज चाल से भागता है या फन उठाकर फुफकार करता है । उस वक्त गुस्से मे सर्प के नेत्र लाल लाल और डरावने हो जाते हैं । यह उस सर्प की आदत होती है । आपको गुस्सा आवे तब महसूस करें या दूसरे को गुस्सा आवे तब देखो कि उस समय नेत्र क्या उसी रूप में लाल लाल और डरावने नही हो जाते हैं तथा उसके नथुने फडफडाने नही लगते हैं ? ऐसी क्या मनुष्य की आदत होती है ? यह तो सर्प की आदत है जो मनुष्य ने अपनी मनुष्य योनि में भी पकड रखी है । मनुष्य योनि का स्वभाव तो देव पुरुषो के समान उदार और सहृदय होता है । ज्ञानियो ने कहा है कि मनुष्य योनि के समान दूसरी कोई भी योनि श्रेष्ठ नही है । मनुष्य के जीवन से बढकर अन्य कोई जीवन नही हैं ।

लेकिन मनुष्य ने अनेकानेक योनियो की आदतो को अभी भी पकड रखी है । मनुष्य के चाल चलन और रहन सहन मे भी अन्य योनिधारियो के स्वभाव का अश ढूंढा जा सकता है । उन आदतो को सम्यक् ज्ञान के साथ ही छोड सकेंगे, अत उनके सम्बन्ध में पूरा ज्ञान लीजिये और सकल्पबद्ध होकर उनको छोड दीजिये । आदतो का अन्त ज्ञान से होगा तथा इच्छाओ का अन्त ध्यान से होगा ।

इच्छाओ की उलझनो में मूल तत्त्व की विस्मृति :

मैं यह अवश्य कहूगा कि ज्ञानियो ने और तीर्थंकरो ने यह बताया है कि किस किस मनुष्य का कौन कौन से जन्म का स्वभाव इस जन्म मे कब कब उभर कर आता है—इसका पता स्वय मनुष्य को भी नही लग सकता है । इन्ही विभिन्न योनियो के विकृत स्वभावो मे उलझ कर मनुष्य ससार के नाशवान पदार्थों की अपार इच्छाओ के दल दल मे फस जाता है । तो ज्ञानीजनो का कथन है कि इन इच्छाओ के मूल मे पहुच जाइये । इनके मूल मे पहुच जायेंगे

रगहीन श्वेत स्वरूप तो चैतन्य का है, अब इस सफेद काच के गिलास मे जिस रग वाली इच्छा को भरते जायेंगे, वैसे ही रग की वह गिलास बन जायगी लेकिन कोई कहे कि गिलास ही अमुक रग की है तो यह समझिये कि उसको मूल का ज्ञान नही है। अपने चैतन्य को उन इच्छाओ के अलग-अलग रगो मे जोडकर चलते है तो उन रगो को ही आत्म विस्मृति की दशा मे सब कुछ मान बैठते है। आप मूल को नही पकडते—रोशनी के मूल रग को नही पहिचानते। इसी कारण अनियन्त्रित मन की रग-विरगी वृत्तिया विचित्रता के साथ इस जीवन मे चल रही है उसमे कौन सा तत्त्व काम कर रहा है? विद्युत् के समान आत्म शक्ति ही वहा काम कर रही है, किन्तु मनुष्य रगो को देखकर अपनी आत्म शक्ति को भूल जाता है।

इच्छाओ के चित्र विचित्र रग,
इस मानव जीवन को वदरग न वनादें :

आकाश के समान अन्तहीन इच्छाए वाहर के तत्वो के साथ महसूस करने मे वडी रगविरगी और लुभावनी लगती है, किन्तु उनके रग उतने ही धोखेभरे और झूठे होते है। इसीलिये यह आशका पैदा होती है कि कही इन छलिनी इच्छाओ के चित्र विचित्र रग इस मानव जीवन को ही वदरग न वनादे। हकीकत तो यह है कि ये इच्छाए अधिकाँश मनुष्यो के अमूल्य जीवन को वरवाद कर रही हैं।

यदि यह आत्मा इन रगो के मोह से ऊपर उठ जाय तो वह दूसरी आत्माओ के सामने इन झूठे रगो का पर्दाफाश कर सकती है। उस जागृत आत्मा का यह विचार बन जाता है कि इच्छाओ के रग नाशवान रग है जबकि मेरा रग इन रगो से एकदम जुदा है। मेरा रग शुद्ध श्वेत और धवल अविनाशी रग है। ऐसी चेतना और भावना मे यदि यह आत्मा स्थित हो जाती है तो जीवन मे महान् सुखद परिवर्तन परिलक्षित हो सकता है। मनुष्य किस रग से रगा है—उसका जीवन किन श्रेष्ठ भावो से भरा हुआ है—उसका ही उल्लेख प्रार्थना मे किया गया है। मनुष्य यदि इस जीवन को सार्थक बनाता है तो अपनी आत्मा को परमात्मा के समकक्ष बना लेता है। फिर क्या हो जाता है उसकी आत्मा का रग? शाति सुधारस के समुद्र का क्या रग होता है? वही इस आत्मा का रग हो जाता है। इच्छाओ के चित्र विचित्र रग तब धुलकर साफ हो जाते हैं और यह मानव जीवन एकदम सुरगा बन जाता है।

चातुर्मास का समय चल रहा है, इसमें बहिन-भाई तपश्चर्या का उजला रंग सजकर चल रहे हैं। यह रंग भाइयों पर कम चढ़ता है बहिनों पर ज्यादा। बहिनें कुछ सोचती हैं कि हमने पूर्व जन्म में अच्छी करणी नहीं की और मनुष्य जीवन को ठीक से नहीं समझा। इसलिए कहीं कुछ छल किया, कहीं कपट किया—छल कपट के रंग अपनाए सो इस जन्म में रंग रंग की पोशाकें पहिन लीं। इस शरीर की प्राप्ति कपट के रंग से आई है—यह शास्त्रीय दृष्टिकोण है।

शास्त्रकार ने बतलाया है कि स्त्री शरीर मिलने का कौनसा कर्म है? यह भी एक प्रकार से वैज्ञानिक बात है। गुणस्थानों में सबसे निकृष्ट पहला गुण-स्थान माना गया है और उससे कुछ ऊंची सी स्थिति लिये हुए दूसरा गुण स्थान माना है। यहां तक ही स्त्री शरीर का बंध होता है। लेकिन ऊपर के उज्ज्वल गुणस्थान पुरुष वर्ग के होते हैं। इन बहिनों को सत्संग के प्रसंग से ज्ञान हो गया कि हमने पूर्व जन्म में अच्छी करणी नहीं की, इस वास्ते स्त्री जन्म मिला - पुरुष जन्म नहीं मिल सका। इसीलिये वे तपश्चर्या में आगे बढ़ती हैं कि पुरुष को मात दे दें। पुरुष मात्र अभिमान के झूले में झूल रहे हैं—अब क्या है जो करेंगे वह अच्छा ही होगा। लेकिन याद रखिये कि पुरुष शरीर धारण करने मात्र से बच नहीं सकते हैं। यदि जीवन को नहीं समझा, रंग बिरंगी इच्छाओं को नहीं रोक सके और रंग बिरंग ज्यादा बन गए तो यह शरीर छोड़ने पर रंग बिरंगी पोशाकें पहिनने वाला स्त्री शरीर न मिल जाय और बहिन पुरुष नहीं हो जाय। यह आपके हाथ की बात है। शरीर प्राप्ति का प्रश्न आत्मिक स्वरूप के ज्ञान के साथ सम्बद्ध है। इसलिये रंग बिरंगी इच्छाओं पर नियंत्रण रखिये और इस जीवन को उज्ज्वल बनाते रहिये।

इच्छाओं का अन्त कैसे हो?
अनूठे इन्साफ की एक अनूठी कहानी

जीवन में ये अनचाही इच्छाएँ बड़ा द्वन्द्व मचाती हैं और जीवन को अशान्त बना डालती हैं। इसलिये जीवन के स्वस्थ एवं सुव्यवस्थित निर्माण के लिये इच्छाओं का अन्त किया जाना आवश्यक माना गया है। अपनी इच्छाओं का दमन कर लेने के लिये आपको स्वयं को अपने जीवन—अपने [illegible] नियन्त्रित करना होगा। सोचें कि किसी प्रसंग में आप स्वयं न्यायाधीश बन [illegible] दूसरों के जीवन के सम्बन्ध में क्या निर्णय [illegible] की सभी तरह से समीक्षा करनी होगी [illegible] इन्साफ करना होगा और तभी उसके गुणावगुणों के

वारे मे निर्णय लेना पडेगा। आप बाहर के न्यायाधीश बने या नही बने, लेकिन अपने भीतर के न्यायाधीश अवश्य बने और इस अपने ही जीवन का इन्साफ जरूर करें।

इस जीवन का सही इन्साफ तभी होगा, जब जीवन के मूल को समझ लेगे और यह समझ लेगे कि आत्मा किस प्रकार अपने मूल से दूर हटती गई और विकारी बनती गई तो आप उस विकारपूर्ण जामे को उतार फेंकने के लिये तत्पर बन जायेंगे। तब आपका चैतन्यपूर्ण विवेक जागृत हो जायगा और इस विवेक के आगे इच्छाओ का दवाव ही खत्म नही होगा, वल्कि इच्छाओ का अस्तित्व ही समाप्त होने लग जायगा।

इच्छाओ का अन्त आ जायगा तो इस शरीर पिंड मे रहते हुए भी आत्मा शुद्ध स्वरूप ग्रहण करेगी। इच्छाओ के दवाव और इच्छाओ के अन्त से सम्वन्धित अनूठे इन्साफ की एक अनूठी कहानी याद आ गई है। एक राजा के दरवार मे एक विचित्र मुकदमा फैसले के लिये पहुचा। दो वहिनो का मुकदमा था—वे दोनो झगड रही थी। वे दोनो एक ही पति की दो पत्नियो के रूप मे थी। एक सेठ ने जीवन को विना समझे दो विवाह कर लिये थे। जहा भिन्न भिन्न स्वभाव की दो पत्निया आ जाय, वहा पति का कैसा हाल हो जाता है? भाँग तो पी लेते है लेकिन उसकी लहरे लेना मुश्किल हो जाता है। यही हाल उस सेठ का हो रहा था। सेठ को एक पत्नी से पुत्र उत्पन्न हुआ और लम्वे समय तक दूसरी पत्नी के कोई सन्तान नही हुई। दोनो के बीच मे एक ही वच्चा था। घर मे धन वैभव बहुत ज्यादा था, इसलिये दोनो के मन मे इच्छाओ का भी अम्वार लगा हुआ था।

जिसकी कुक्षि से पुत्र जन्मा था, उसने सोचा कि घर की सारी सम्पत्ति का उपयोग करने वाला तो मेरा पुत्र ही रहेगा और यह सोच-सोच कर वह प्रसन्न रहती थी। दूसरी ने सोचा कि बच्चा जिसके पास रहेगा, सेठ जी के चले जाने के बाद सम्पत्ति उसी पत्नी के पास रहेगी सो मैं इस अबोध बच्चे को इतने स्नेह से अपना लू कि वह मुझे ही मा मानकर चले। दूसरी वच्चे का वहुत ही स्नेह से लालन पालन करने लगी। पहली पत्नी को भी उस के इस कार्य से प्रसन्नता ही होती थी, वह उसकी इस चालाकी को नही समझ पाई थी।

मूल तत्व को पहिचानना है ? बाहर के दृश्य बड़े लुभावने हैं लेकिन 'मेरा-मेरा' कहने से काम नही चलेगा। यह व्यर्थ का मोह और अभिमान है जो अन्तहीन इच्छाओ को जगाता है। यह मत सोचे कि दुनिया का काम आपके विना नही चलेगा। जैसा एक कूकड़े वाली वहिन सोचती थी कि उसका कूकडा नही बोलेगा तो भला सवेरा ही कैसे हो सकेगा ?

दुनिया का यह प्रवाह तो चलता रहता है जो इस प्रवाह मे से निकलने का विवेक जगा लेता है, वह अपने आत्म विकास के मार्ग पर आगे बढ जाता है और जो अन्तहीन इच्छाओ के जाल मे फसा हुआ ही रह जाता है, वह इस प्रवाह मे गोते खाता रहता है और चट्टानो से टकरा-टकरा कर अपने आत्म स्वरूप को क्षत विक्षत बनाता रहता है।

सकल्प लीजिये की इस अमूल्य मानव जीवन को सार्थक बनाना है तथा आत्मा को अज्ञान और विकारो के दलदल से बाहर निकालनी है। अपने सम्पूर्ण जीवन को बदरग नही रखकर श्वेत और उज्ज्वल बनाना हे। अनन्त आकाश के समान इन अनन्त इच्छाओ से मुक्ति पा लें।

दि १ ९. ७७

की तबीयत कैसी है ? आप उत्साह से कहते हैं-तबीयत पहले जैसी ही बहुत अच्छी है। यह स्थूल कथन है । लेकिन महीने भर पहले जो शरीर था. समझ लीजिये कि वह महीने भर बाद नही रहा । उसमे परिवर्तन है। जीवन मे क्षण क्षण परिवर्तन होता रहता है । इतना शीघ्र और इतना सूक्ष्म परिवर्तन प्रतिक्षण होता है कि स्वय मनुष्य भी उसको समझ नही पाता है। इसीलिये आयु चालीस के ऊपर पहुचती है तो ऐसा महसूस होता है जैसे शरीर अशक्त हो रहा है और कुछ कर पाने का उत्साह शिथिल होता जा रहा है। पहले जैसी रौनक नही रहती है।

परिवर्तन की इस प्रक्रिया का स्पष्ट आभास तब होता है, जब तरुणाई ढलने लगती है। जो रूप-जो बल पहले था, क्या तब रहता है। वैसे तो मनुष्य प्रतिदिन दर्पण मे देखता है और समझता है कि मेरी आकृति वैसी की वैसी है-मेरा शरीर वैसा का वैसा है, लेकिन यह उसका दृष्टि भ्रम ही होता है। एक दिन मे परिवर्तन प्रतीत नही होता, परिवर्तन की प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है और उसका परिणाम जब घनत्व मे प्रकट होता है। तभी उसका स्पष्ट अनुभव होता है। यह शरीर पौद्गलिक होता है और पुद्गल का स्वभाव ही सडना, गलना और नष्ट होना कहा गया है। इस दृष्टि मे ही मानव जीवन क्षणभगुर बताया गया है । यह बादल की तरह कोमल होता है । देखते नही आप कि बादलो का समूह कितनी जल्दी इकठ्ठा हो जाता है और कितनी जल्दी बिखर भी जाता है ? वैसी ही स्थिति इस शरीर और इस जीवन की भी है। कब यह बिखर जाय-कब अपनी इहलीला समाप्त करदे- इसका कोई भरोसा नही है।

परिवर्तन की इस प्रक्रिया से ही मनुष्य को अपनी आत्मा का बोध होना चाहिये। यह शरीर अपनी आत्मा के साथ सयुक्त होता है और जब तक यह सयोग है तभी तक इस जीवन का भी अस्तित्त्व है। कर्मो की जड के साथ यह शरीर और जीवन पनपता है तथा उसी के साथ इनका विसर्जन हो जाता है, इस जीवन मे जिस तरह के नये कर्मो का उपार्जन होता है, उसी प्रकार से उसके अगले जीवन का भी निर्माण हो जाता है।

जब यह मानव जीवन इतना नश्वर और इतना विसर्जनशील है, तब भी इसका इतना अधिक महत्त्व क्यो प्रतिपादित किया गया है ? महत्त्व की दिशा मे जानकारी करें तो ज्ञान होगा कि कोमल तत्त्व भले ही नश्वर होता

एक व्यक्ति दही लेकर बैठता है और एक मक्खन लेकर बैठता है। यो कह लीजिले कि एक के भोजन मे मक्खन रख दिया और दूसरे के भोजन मे दही और दोनो पास पास मे भोजन करने बैठे तो कौन अपने आपको ऊचा महसूस करेगा ? जिसको मक्खन रखा गया, वह अपने आपको ऊचा समझेगा और जिसको दही परोसा गया है वह समझेगा उसके साथ भेदभाव किया गया हे। वह यह नही सोचेगा कि दही मे मक्खन रहा हुआ है। इसी रूप मे देव शरीर कोमल नही होने से सारपूर्ण नही होता है। जैसे दही मे मक्खन होता है, वैसे देव शरीर मे मानव शरीर प्राप्त करने की क्षमता होती है लेकिन मक्खन रुप मानव शरीर मे ही यह क्षमता होती है कि इस जीवन मे ही आके परमात्म स्वरुप का साक्षात् कर लिया जाय। इस देह रूपी मक्खन को पाकर ही आत्मा पूर्णतया पुष्ट हो सकती है और यदि आत्मा को पूर्ण वलवती बना ली जाती है तो फिर देव देवी भी उस पूर्णतया के चरणो मे लोटपोट हो जाते हैं। वैसे मनुष्य को देवताओ का भी नमन प्राप्त हो जाता है।

देवताओ के दिव्य शरीर की तुलना मे भौतिक दृष्टि से भले ही मनुष्य का शरीर वैसे रूप और लावण्य वाला न हो, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य का शरीर देव शरीर से अधिक भव्य होता है। जो शरीर आत्मा को उसके लक्ष्य तक पहुचाने का सामर्थ्य रखता हो, भला उस शरीर की महत्ता के आगे अन्य कौनसा शरीर जा सकता है ? इसीलिये देव भी उस आत्मा को नमन करते हैं, जो आत्मा शरीर रुपी इस मक्खन का पूर्ण सदुपयोग करते हुए अपने स्वरुप को पुष्ट वना लेती है। इस मानव शरीर मे रहते हुए भी वह आत्मा वन्दनीय वन जाती है, जो शरीर धर्म साधना मे प्रवृत्त बना देती है, स्वय के अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को अपना कर अपने जीवन को उज्जवल वना लेती है। ऐसे आत्म स्वरुप को देखकर ही देवता प्रतिस्पर्धा करने लगते है, परीक्षा लेते हैं और उसके चरणो मे झुक जाते हैं। देवलोक मे रहते हुए भी तव वे कामना करते है कि वे मनुष्य जीवन को प्राप्त करे। देव देवयोनि से मोक्ष मे नही जा सकते हैं। मोक्ष की अभिलाषा मानव जीवन मे ही पूरी की जा सकती है।

साधना का क्रम श्रावकत्व से

देवता अपने देव जीवन मे भी कामना करते हैं कि वे उस जीवन को समाप्त कर मनुष्य जीवन में और उसमे भी श्रावक कुल मे जन्म ले।

एक व्यक्ति दही लेकर बैठता है और एक मक्खन लेकर बैठता है। यो कह लीजिले कि एक के भोजन मे मक्खन रख दिया और दूसरे के भोजन मे दही और दोनो पास पास मे भोजन करने बैठे तो कौन अपने आपको ऊचा महसूस करेगा ? जिसको मक्खन रखा गया, वह अपने आपको ऊचा समझेगा और जिसको दही परोसा गया है वह समझेगा उसके साथ भेदभाव किया गया हे। वह यह नही सोचेगा कि दही मे मक्खन रहा हुआ है। इसी रूप मे देव शरीर कोमल नही होने से सारपूर्ण नही होता है। जैसे दही मे मक्खन होता है, वैसे देव शरीर मे मानव शरीर प्राप्त करने की क्षमता होती है लेकिन मक्खन रुप मानव शरीर मे ही यह क्षमता होती है कि इस जीवन मे ही आके परमात्म स्वरुप का साक्षात् कर लिया जाय। इस देह रूपी मक्खन को पाकर ही आत्मा पूर्णतया पुष्ट हो सकती है और यदि आत्मा को पूर्ण बलवती बना ली जाती है तो फिर देव देवी भी उस पूर्णतया के चरणो मे लोटपोट हो जाते है। वैसे मनुष्य को देवताओ का भी नमन प्राप्त हो जाता है।

देवताओ के दिव्य शरीर की तुलना मे भौतिक दृष्टि से भले ही मनुष्य का शरीर वैसे रूप और लावण्य वाला न हो, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से मनुष्य का शरीर- देव शरीर से अधिक भव्य होता है। जो शरीर आत्मा को उसके लक्ष्य तक पहुचाने का सामर्थ्य रखता हो, भला उस शरीर की महत्ता के आगे अन्य कौनसा शरीर जा सकता है ? इसीलिये देव भी उस आत्मा को नमन करते हैं, जो आत्मा शरीर रुपी इस मक्खन का पूर्ण सदुपयोग करते हुए अपने स्वरुप को पुष्ट बना लेती है। इस मानव शरीर मे रहते हुए भी वह आत्मा वन्दनीय बन जाती है, जो शरीर धर्म साधना मे प्रवृत्त बना देती है, स्वय के अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह को अपना कर अपने जीवन को उज्जवल बना लेती है। ऐसे आत्म स्वरुप को देखकर ही देवता प्रतिस्पर्धा करने लगते हैं, परीक्षा लेते हैं और उसके चरणो मे झुक जाते हैं। देवलोक मे रहते हुए भी तब वे कामना करते है कि वे मनुष्य जीवन को प्राप्त करें। देव देवयोनि से मोक्ष मे नही जा सकते हैं। मोक्ष की अभिलाषा मानव जीवन मे ही पूरी की जा सकती है।

साधना का क्रम श्रावकत्व से

देवता अपने देव जीवन मे भी कामना करते हैं कि वे उस जीवन को समाप्त कर मनुष्य जीवन में और उसमे भी श्रावक कुल मे जन्म ले।

कैसा होना है श्रावक ? कैसा होता है उसका धर्म और स्वरूप–जिसकी कामना देवता भी करते हैं। और आपका जन्म तो श्रावक कुल मे ही हुआ है, तो क्या आपने अच्छी तरह मे श्रावकत्व के स्वरूप को समझा है ? क्या आप अपने आपको सौभाग्यशाली मानते हैं कि आप श्रावक कुल मे जन्मे हैं ? श्रावक कुल मे आपको जन्म सहज रुप मे मिल गया है लेकिन श्रावकत्व का अनुपालन उतना सहज नही होता है। मनुष्य जीवन को पाकर मनुष्यता को प्राप्त करना आगे की बात होती है। उसके लिये अपने को तपाना पडता है। उसी रुप मे मनुष्य जीवन मे साधना का क्रम श्रावकत्व से शुरु होता है।

देवी देवता इतना तक सोचते हैं कि कदाचित् इतनी पुण्यवानी का सचय नही कर सकें कि श्रावक कुल मे जन्म हो और कम पुण्यवानी हो तो श्रावक कुल मे ही अनुचर ही बन जावे। वे श्रावक कुल को इतना उच्च समझते हैं कि उसमे अनुचर बन करके भी अपने जीवन को सार्थक मानते हैं, क्यो कि सम्यक्त्व प्राप्त हो जाने के बाद श्रावकत्व से ही मोक्ष की साधना का क्रम प्रारभ होता है तथा एक श्रावक अपने कुल मे रहने वाले अनुचरो को भी आध्यात्मिक दिशा मे आगे बढने की प्रेरणा देता है।

ऐसी कौनसी विशिष्टता है श्रावक मे ? यह विशिष्टता धर्म साधना के कारण बनती है। तीर्थंकरो की वाणी को श्रावक अपने जीवन मे उतारता है और अपने जीवन को उनके आदर्श की तरफ बढाता है–इसी कारण उसके पद को इतना ऊँचा पद माना गया है जिसको पाने की देवी-देवता भी कामना करते है। केवल ज्ञान प्राप्त हो जाने के बाद तीर्थंकरो ने चार तीर्थों की स्थापना की और उसको धर्मसघ माना। ये चार तीर्थ है–साधु, साध्वी, श्रावक तथा श्राविका। श्रावक और श्राविकाओ को भी तीर्थ की सज्ञा दी गई है क्यो कि श्रावकत्व ही विकसित होकर साधुत्व मे परिवर्तित होता है। श्रावकत्व एक प्रकार से साधुत्व का धरातल होता है। अपने समग्र जीवन को साधना में समर्पित करने वाले साधु और साध्वी तो तीर्थ रूप हैं ही, लेकिन श्रावक व श्राविकाओं को भी तीर्थ का पद इसलिये दिया गया है कि वे गृहस्थ रहते हुए भी त्याग मार्ग की ओर गतिशील रहते हैं तथा समग्र त्यागियो के त्याग को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिये उनको सरक्षण भी देते हैं।

जानते है आप कि तीर्थ किसको कहते हैं ? यह तीर्थ शब्द पवित्रता का सामेतिक शब्द है। तीर्थ का अर्थ यह है कि जिनके समीप मे जाने

वाला तिर जाय याने कि तीर्थ के समागम से जीवन आदर्श और पवित्र बन जाय। जिसके समीप मे जाने से आत्मा को शीतलता का अनुभव हो—शान्ति को उपलब्धि हो, वही सच्चा तीर्थ कहलाता है।

जहा द्रव्य तीर्थ का प्रसग है, सरिता तट के समीप यदि कोई पुरुष जाता है ताप से तप्त बना हुआ जाता है तो गगा की ठडी लहरो से उसको शीतलता का अनुभव होता है जब गगा के जल से आचमन करता है तो उसकी प्यास भी शान्त हो जाती है और आगे बढता है तो स्नान के द्वारा अपने शरीर के मैल को भी धो सकता है। लेकिन जहा अन्तरात्मा के मैल को धोने का कार्य है, उसके लिये द्रव्य तीर्थ काम नही आते है। इस कार्य के लिये चैतन्य तीर्थ के पास जाना पडेगा। भीतरी ताप को मिटाने के निमित्त से वही समुन्नत आत्मा तीर्थ का काम देती है जो जागृतिपूर्वक श्रावकत्व अथवा साधुत्व को साधना कर रही हो। जो चैतन्य तीर्थ के पास पहुचकर अपने अन्दर के जीवन को धो लेता है, वही अपने आत्मस्वरूप को देदीप्यमान बना सकता है।

श्री कृष्ण की तू बी

महाभारत का भयकर युद्ध जब निपट चुका तो पाडव व उनके साथियो ने सोचा कि युद्ध के प्रसग से काफी नर-महार हुआ है सो इस सारे पाप को तो तीर्थो मे स्नान करके धो डालना चाहिये ताकि यह जीवन अपवित्र न रहे। वे सब मिलकर श्री कृष्ण के पास गये और उनको भी साथ मे चलने का निमंत्रण दिया श्रीकृष्ण ने कहा— मुझे तो राज—काज से फुरसत नही है— आप मेरी ओर से यह एक तू बी ले जाइये और इसको सभी तीर्थ करा लाइयेगा। उन्होंने तू बी को अपने साथ ले ली और वे तीर्थ यात्रा के लिये रवाना हो गये। सब तीर्थ करके वे वापिस लौटे। हर तीर्थ पर जहा उन्होने स्नान किया, उन्होने श्री कृष्ण की तू बी को भी स्नान कराया। लौटकर वे श्री कृष्ण के पास गये और उनको उनकी तू बी लौटाई। तू बी लेकर श्री कृष्ण ने पूछा— क्या मेरी तू बी भी आपकी तरह पवित्र हो गई है? उन्होंने उत्तर दिया— क्यो नही? इसको भी विधिवत् सभी तीर्थ करा दिये है। श्री कृष्ण ने तू बी को अपने अनुचर के साथ भीतर भेजकर उनके सत्कार मे प्रसाद लाने को कहा। थोडी देर मे अनुचर चूर्ण ले आया—सबको दिया गया और सभी ने मुह मे डाला तो उस कडुए—जहर चूर्ण से सभी के मुह बिगड गये।

तब श्री कृष्ण ने पूछा-क्या बात है ? क्या आप कुछ बुरा अनुभव कर रहे हैं ? एक ने झिझकते हुए जवाब दिया-यह तो एकदम कडुआ है ? उन्होंने कहा-क्या बात करते हो ? चूर्ण कडुआ कैसे हो सकता है ? यह तो उसी तूंबी का चूर्ण है-क्या आपने सभी तीर्थों पर उसको स्नान ठीक तरह से नहीं कराया था ? पवित्रता आने पर तो मधुरता आ जाती है ? सबके मुंह फक् हो गये, तब श्री कृष्ण ने समझाया-तीर्थ वही कहलाता है, जहां भीतर का मैल साफ होता है। इतने सारे तीर्थ करा देने पर भी अगर एक तूंबी के भीतरी भाग की कडुवाहट नहीं गई तो आप लोगों के मन निर्विकारी और शुद्ध कैसे हुए होंगे ? उन्होंने उपदेश दिया-

आत्मा नदी सयमतोय पूर्णा, सत्यावहाशील तटादयोर्मिः ।
तत्राभिषेक कुरु पाडु पुत्रा, न वारिणा शुद्धमतिचानरात्मा ।।

सिर्फ बाहर से ही अपने को धो लें, उसका जीवन पर कोई असर नहीं पडता है । धोने की जो बात है, वह अन्तरात्मा के मैल को धोने की बात है । अब जो तीर्थों मे घूम आया-नहा आया और उसने समझ लिया कि वह पवित्र बन गया तो क्या वह भ्रान्ति मे रहेगा या नही ? श्री कृष्ण की तूंबी का तनिक भी तो कडुआपन दूर नही हुआ । एक जड पदार्थ भी सारे तीर्थों के प्रभाव से नही बदल सका तो यह आत्मतत्त्व क्या तीर्थों के जल से बदल जाएगा ? क्या उसका सारा मैल वहां घुल जाएगा ! ऐसा नही होता है । अन्दर की शुद्धि तो अन्दर की प्रक्रिया से ही होगी तथा अन्दर के तीर्थों पर ही वैसा वातावरण मिलेगा । तीर्थंकरों ने जो चार तीर्थ बताये है और अपनी आन्तरिक शुद्धि के आधार पर सब को आत्म शुद्धि की प्रेरणा देते हैं ।

आत्म शुद्धि अन्तस्नान से होगी और वह भी तब होगी जब अन्त - करण को शुद्ध धार्मिक क्रियाओं के पवित्र जल मे धोयेंगे । तब अन्त करण उज्ज्वल बनेगा और उज्ज्वल बनेगा तभी आप तीर्थ के पद को गौरवान्वित्त बना सकेंगे । आप श्रावक हैं औरइसलिये तीर्थ है, जिसका अभिप्राय यह है कि आपके जीवन से दूसरों को शीतलता और शान्ति मिले । लेकिन पहले यह तो देख लीजिये कि आप स्वय ही ताप तप्त तो नही हैं ? दूसरो को शीतलता व शान्ति के अभिलाषी है या नही है । दूसरो को शीतलता तभी दे पायेंगे जब आप स्वय परम शीतल होंगे । आप अपने तारों को समझिये, स्वय शीतल

बनकर अन्यों को शीतलता दीजिये तथा श्रावक के तीर्थ रूपी पद की गरिमा को बढाइये ।

धर्म में सदा मन रहे तो देवता भी मनुष्य को नमन करें

कठिन संकल्प, अटूट निष्ठा तथा वास्तविक पुरुषार्थ बनता है, तभी अन्त करण को धो लेने का कार्य पूरा हो सकता है । गन्दगी से मन हटे और फिर कभी गदगी मे नही जावे तो वैसे अन्त करण को एक बार धो लेने पर फिर उसकी पवित्रता बनी रह सकती है । ऐसे अन्त करण से जब धर्म की साधना की जाती हैं तो वैसी साधना सच्ची बनती है । यह साधना जब पुष्ट रूप लेती है तो फिर सदा सर्वदा धर्म मे मन रम जाता है और उसका जीवन पवित्रता से ओतप्रोत बन जाता है । ऐसी पवित्र आत्मा के लिये ही भगवान् महावीर ने कहा है–

देवा वि त नमंसति,
जस्स धम्मे समा मणो ।

अर्थात्–उसको देवता भी नमस्कार करते हैं, जिसका मन सदा धर्म मे लगा रहता है।

मनुष्य धर्म के साथ ही देवो के लिये वन्दनीय बनता है । धर्म साधना के कारण ही मनुष्य को देवता भी नमन करते हैं । इसीलिये देवो की कामना श्रावक कुल मे तथा श्रावक कुल के अनुचर के रूप मे भी जन्म लेने की होती है । वे सोचते हैं कि तीर्थं के सेवक रूप रहने मे भी उनकी आत्मा का उद्धार हो जायगा । आप हैं, आपके यहा नौकर भी होंगे, क्या उन नौकरो को भी कभी आपने बोध दिया हैं ! उनको धार्मिकता सिखाने की कभी कोशिस की है ? क्या आपने उनको आत्मिक शान्ति का विज्ञान दिया है ? कई भाई सोचते होंगे कि बेचारे नौकर क्या धर्म को समझेंगे ! धर्म को तो हम समझते हैं । आप धर्म को समझें और धर्म के अनुसार अपने जीवन को बनावे तो इससे बढकर क्या शुभ बात हो सकती है ! लेकिन अपने इस अन्तर्पट मे झांककर भली प्रकार देख जरुर लें कि आपकी धर्म की समझ का कितना और कैसा व्यवहारिक रूप है ? शायद है आप अपने नौकर को कुछ कुछ धार्मिक बोध दें तो वह जल्दी जागृत बन जाय । आपकी जागृति का तो आप ही ने विचित्र हाल बना दिया है ।

नौकर को परिवार में समानता का व्यवहार देना, उसके साथ भोजन आदि में किसी तरह का भेद भाव नहीं रखना तथा उसमें यत्न करके धार्मिक भावना जगाना– यह वही श्रावक कर सकता है जिसका मन सदा सर्वदा धर्म में लगा रहता है। आप नौकर को तिरस्कृत नहीं करते हुए उसके साथ स्नेह से 'भाई' शब्द का व्यवहार करेंगे तब उसका हृदय प्रफुल्लित हो जाएगा। उसको जितना अपनत्व दिया जाएगा, उससे कई गुना अधिक अपनत्व देने के लिये वह तत्पर रहेगा। गृहस्थाश्रम में रहते हुए यह भी धर्म साधना का एक अंग है, क्यों कि परिवार में हर छोटे बड़े के साथ स्नेहपूर्ण समान व्यवहार करना सीखेंगे तो सारे समाज के सदस्यों तथा राष्ट्र के नागरिकों एवं धीरे धीरे सभी प्राणियों के साथ आत्मीयतापूर्ण व्यवहार करने के अभ्यस्त बन जायेंगे।

आपका तीर्थंपद तभी गौरव पा सकेगा, जब आप अपना ऐसा व्यवहार बना लें कि जो भी आपके समीप में–आपके सम्पर्क में आवे, वह अपने आप को मिटा सके तथा आपसे शीतलता पा सके–ऐसा दृश्य बनना चाहिये। तीर्थ का यह गौरव तभी पैदा हो सकेगा, जब आपका मन धर्म के उज्ज्वल रंग में गहरा गहरा डूब जाएगा। आत्मा की ऐसी ही अवस्था जब उच्चतर कोटि की बनती है, तब बिना बुलाए देव आते हैं और उस मनुष्य को नमन करते है।

शरीर पोषण या आत्मा पोषण

यह मानव शरीर मक्खन के समान है–कोमल और सारपूर्ण, लेकिन कब? जब इस शरीर को आत्म धर्म का साधन बनाया जाय। लेकिन इसके विपरीत अगर शरीर आत्मा के अनुशासन में नहीं रहता और स्वच्छंद हो जाता है तो वह अपने साथ आत्मा को विपथगामिनी बना देता है। इसलिये मनुष्य यदि सिर्फ शरीर पोषण के चक्कर में पड़ जाता है तो वह चेतन से दूर हटकर जड़ता की ओर आगे बढ़ता है और इसलिये गिरता है। वह इस मक्खन को विकार के गटर में फैंक देता है।

आत्मा की सेवा मे लगा देता है और शरीर को चन्दन बना देता है। आत्म पोषण से मनुष्य ऊपर उठता है तथा उसका जीवन आदर्श अनुकरणीय एव वन्दनीय बनता है।

मैं इतना ही कहना चाहता हू कि इन्सान के चोले मे रहते हुए मनुष्य जीवन को सार्थक बनालें। यह जीवन तो मक्खन की तरह जल्दी जाने वाला है। इसको यदि आत्म पोषण मे लगा देंगे तो निहाल हो जाएँगे। जैसे बडे लोगो की दृष्टि जिसकी तरफ हो जाती है तो वह मालामाल हो जाता है, वैसे ही इस जीवन की तरफ जागृत आत्मा की दृष्टि मुड जाय तो यह जीवन भी निहाल हो जाता है आत्म धर्म के स्वरूप को समझने मे पीछे नही रहे। भगवान् महावीर ने उद्घोषणा की है कि—

सुत्ते सुया वि पडिबद्ध जीवी,
नवीमसे पडिय आसु पन्ने।
घोरा मुहुत्ता अबलं शरीर,
भारड पक्खी व चरेऽपमत्तो ॥

शास्त्रकारो ने मनुष्य शरीर को सर्वश्रेष्ठ शरीर बताया है, लेकिन इसके प्रति पूरी तरह सावधानी रखने का भी सकेत दिया है यह सकेत अन्त:करण पूर्वक सब समझें। इस मानव जीवन मे आत्मा का पोषण इस रूप मे करें कि शरीर उसका श्रेष्ठ सहयोगी हो तथा आत्म—बल मे निरन्तर अभिवृद्धि होती जावे। आत्मा की शक्ति ही सर्वोपरि शक्ति होती है तथा जो इस आत्म शक्ति होती है तथा जो इस आत्म शक्ति को सुदृढ बना लेता है वह फिर अजेय हो जाता है—ससार के सारे विकार भी उसके आदर्श को परास्त नही कर सकते हैं।

देवता का नमन मनुष्य की योग्यता

गुणपूजक सस्कृति सदा ही गुणो को प्रधानता से देखती है और उसका उद्देश्य साफ होता है कि मनुष्य अन्य-अन्य प्रकार के वस्त्र बढाने और उनका प्रदर्शन करने से बाज आवे तथा गुणो के आदर्श को अनुकरणीय समझें। ये गुण क्या होते हैं ? इन्हे आत्म स्वरुप के प्रतीक समझ सकते है। आत्मा यदि सासारिक विकारो मे रची पची है तो उस अवस्था मे जीवन मे उस आत्मा के जो प्रतीक नजर आयेंगे, वे भी विकारी होगे अत: वे गुण दुर्गुण कहलायेंगे। इसी

तरह जिस व्यक्ति का जीवन आध्यात्मिकता की ओर मुड चुका है उसको आत्मा विकारो को छोडती है–अपने ऊपर आये हुए आवरणो को हटाती है। इससे उसका मूल स्वरूप प्रकाशित होता है । तब उसकी जो किरणे बाहर फूटेगी, वे सद्गुणो के रूप मे होगी । उन सद्गुणो से ही उस आत्मा की समुन्नत अवस्था का परिचय मिलता है । इसलिये गुण आत्मदशा के परिचायक होते हैं ।

देवता मनुष्य को नमन तो करें और अवश्य करेंगे, लेकिन क्या वे वर्तमान विकारपूर्ण मनुष्य को नमन करेंगे ? ऐसा नही होगा । मनुष्य अपने शरीर का सदुपयोग करे, जीवन को समुन्नति की ओर ले जावे तथा आत्मा को ऐसी गुणशील बनादे कि ससार उसके सामने झुक जाय केवल देवता ही क्या होते हैं।

दि २ ६ ७७
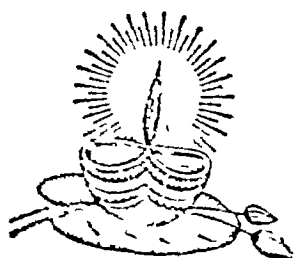
जीवन्त जिज्ञासा: आत्म–शक्ति की शोध

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए

जिज्ञासु आत्मा अपनी जिज्ञासा पूर्ति के लिये किसी विशिष्ट पुरुष की शरण ग्रहण करती है । जिज्ञासा उसी आत्मा की आन्तरिकता मे पैदा होती है, जिस आत्मा को यह अनुभव हो कि मेरा जीवन अभी अपूर्ण है तथा मैं अपने जीवन मे विशेष सुख शान्ति का अभी तक रसास्वादन नही कर पाई हू । जो कुछ भी सुख का आभास कभी मिलता है, वह स्थायी प्रकृति का नही हैं और जो सुख स्थायी प्रकृति का नही होता है, वह अस्थायी रूप से तत्क्षण अनुभव मे आता है लेकिन तत्क्षण मिट भी जाता है तथा फिर से दु खद्वन्द घेर लेते हैं ।

तब मनुष्य को अपने जीवन मे एक प्रकार से खालीपन या रिक्तता भी महसूसगिरी होती है और उसका अनुभव करते हुए वह आकाक्षा करता है कि उसकी रिक्तता भर जाय । उस रिक्तता को भरने के लिये वह उपयुक्त साधनो को ढू ढता है ताकि उसके जीवन की अपूर्णता मिट सके तथा अन्त - करण मे पूर्णता की पवित्र भावना झलके । वह सोचता है कि इस रूप मे उसकी जिज्ञासा की परिपूर्ण तृप्ति हो सके– ऐसा कौनसा स्थल हो सकता है ? जब उसकी जिज्ञासा जीवन्त बनती है तो वह आत्मशक्ति की शोध मे धैर्य और साहस के साथ निकल पडता है ।

जिज्ञासा की वास्तविकता

उपदेश की स्थिति से उपदेश बहुत सारे स्थलो से मिल सकता है– वक्ताओ की कमी नही है । नैतिकता का, धार्मिकता का उपदेश देने वाले भी बहुतेरे मिल सकते हैं । इतना सब सुनते हुए भी इस जीवन मे तृप्ति क्या

अनुभव क्यो नही होता है ? क्यो नहीं व्यक्ति अपने आप को समझ पाता है कि उसके लिये तृप्ति का विषय कहाँ प्राप्त हो सकेगा ? इसमे दो कारण हो सकते हैं—एक तो स्वय की योग्यता तथा दूसरे, कथन करने वाले की योग्यता।

वास्तव मे यदि स्वय की जिज्ञासा नही है, दिखावटी तौर पर ही कोई जिज्ञासु बना है, तो वैसा व्यक्ति कितना ही कुछ सुनेगा लेकिन वह पत्थर पर पानी डालने जैसा ही रहेगा। ऐसे ऐसे लोग भी इस स्वभाव के मिल सकते हैं जिन्हे प्राय रोज उपदेश सुनते हुए देखते हैं, लेकिन जिनका दिल चिकने घड़े जैसा बना हुआ है, जिस पर प्रतिबोध की एक बूंद भी ठहरती नहीहै क्यो कि ये व्याख्यान वगैरा रीति रिवाज और अच्छा नही लगने की दृष्टि मात्र से सुनते हैं। ऐसे लोगो को पवित्र से पवित्र स्थान मिल जाय तथा पवित्र से पवित्र उपदेश सुनने को मिल जाय, तब भी न तो उनके मन मे जिज्ञासा जागती है और न उसकी पूर्ति होने का प्रश्न ही पैदा होता है। तीर्थंकर सर्वज्ञ देव भी उसके सामने आकर अच्छा मे अच्छा उपदेश देदें तब भी वे अन्तःकरण से सन्तुष्ट नही होते हैं। वह दोष सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् का नहीं होता—कथन करने वाले महाशय का नही होता, वह दोष होता है ग्रहण करने वाले पात्र का, जिसमे ग्रहण करने की योग्यता ही नही होती है। यह समझना चाहिये कि उसकी अयोग्यता ही उसको असन्तुष्ट रख रही है।

सूर्य से सारा जगत् प्रकाश लेता है, सभी लोग प्रकाश ग्रहण करते हैं लेकिन ऐसे भी जन्तु होते हैं जो सूर्य से प्रकाश का लाभ नही उठा पाते हैं। सूर्य उसको प्रकाश देता नही है यह तो नही कह सकते हैं, क्यो कि सूर्य तो समभाव से प्रकाश दे रहा है, लेकिन ग्रहण करने वाले के नेत्रो मे ही ऐसा कुछ दोष समाया हुआ है कि जिसके कारण वह सूर्य के प्रकाश को देख भी नही पाता है। सूर्य की किरणें आते ही उलूक पक्षी की आखें दृष्टिहीन बन जाती हैं। ऐसा ही दृष्टिकोण किन्ही व्यक्तियो का श्रेष्ठ से श्रेष्ठ वाणी तथा वीतराग वाणी तक के प्रति बन सकता है। वहा पर वस्तुत, जिज्ञासा का ही अभाव होता है तथा जिज्ञासा की वास्तविकता को समझने की भी कोई जिज्ञासा नही होती है।

जीवन्त जिज्ञासा वाले श्रोता पर ही उपदेश का प्रभाव

कभी कभी प्रश्न खड़ा होता है कि इतना उपदेश जैनो को मिलता है या दूसरो को मिलता है, फिर भी उन पर उपदेश का प्रभाव क्यो नही

दिखाई देता है ? इसमे भी यही वस्तु विषय है कि उपदेश देने वाला कैसा है और उपदेश को श्रवण करने वाला कैसा है ? उपदेश दाता यदि अच्छा भी है, लेकिन श्रवण करने वाला उसके मुकाबले का नही है तो वह उस उपदेश को ग्रहण नही कर पाता है ।

सर्वथा श्रोताओ का अभाव है अथवा सही जिज्ञासा वाले है ही नही ऐसा भी नही कह सकते है । जीवन मे बहुतेरा परिवर्तन व्यक्ति अनुभव करता है तो वह उपदेश के प्रभाव से भी काफी अंशो मे होता है । जीवन्त जिज्ञासा वाले श्रोता के हृदय पर उपदेश का प्रभाव पडे बिना नही रहता है । इसके लिये श्रोता रूप योग्य पात्र की आवश्यकता होती है । पात्र की योग्यता यह कि उसमे उपदेश ग्रहण करने की क्षमता हो तथा दूसरे वह जिज्ञासापूर्ण हो तथा स्वच्छ हो । जीवन मे कुछ भी अच्छा तत्त्व ग्रहण करने के लिए हृदय की निर्मलता आवश्यक मानी गई है । उसके साथ ही जिज्ञासा भी योग्य तरीके की हो तथा उसकी पूर्ति करने की अन्दर की तत्परता भी हो । जब पानी की उग्र प्यास लगती है तो सब तरह से पानी की खोज करके उस जीवन-दायक जल को ग्रहण किया जाता है । चातक पक्षी के बारे मे लोकोक्ति है कि वह जमीन पर गिरा हुआ पानी ग्रहण नही करता है केवल स्वाति नक्षत्र मे आकाश से सीधी गिरती हुई बूंदो को ही ग्रहण करता है, अन्यथा वह प्यासा ही रहता है । वैसे ही चातक पक्षी के समान एक जीवन्त जिज्ञासा वाला श्रोता भी उपदेश ग्रहण करता है किन्तु योग्य स्थल से ही उपदेश ग्रहण करता है और तब उस उपदेश से अपने जीवन को प्रभावित भी बनाता है ।

उपदेशक कैसे हों—
सेठ की तरह या मुनीम की तरह

दूसरा प्रश्न ले लें उपदेशक का—वक्ता का । वक्ता कैसा होता है ? बोलने वाले महाशय जो कुछ भी वक्तव्य दे रहें हैं, वह उस रूप मे मुनीम का कार्य कर रहे हैं अथवा सेठ की तरह होकर वक्तव्य दे रहे हैं ? दोनो प्रकारो मे एक अन्तर आता है । एक तो अन्तःकरणपूर्वक इस इच्छा से उपदेश दिया जाता है कि मैं खूब देने के लिए तैयार हू और वह स्वय दान करता है । दूसरे, सेठ की अनुपस्थिति मे सेठ का मुनीम या नौकर दान देता है तो दान देने म कुछ मन्तर आयेगा या नही ? मुनीम किस भावना से दान देता है ? वह सोचता है कि यह सेठ का पैसा है और मैं दे रहा हू । उस देने मे उसका खुद का रस लेना जरूरी नही है क्यो कि चीज उसकी अपनी नही है ।

उस का नाम अपना कर्तव्य बजाने की दृष्टि से होता है।

वैसे ही उपदेश देने वाला स्वय सेठ बनकर उपदेश दे रहा है या मुनीम बनकर उपदेश दे रहा है—यह देखने की बात होती है। यदि मुनीम बनकर उपदेश दिया गया तो उसमे अन्तर जरूर पडेगा। मुनीम तिजोरी मे से उठा उठा कर इधर दान देता है लेकिन तिजोरी मे खूट गया तो फिर कहा से देगा? उसकी खुद की पूजी तो है नही। वैसे ही जो वक्ता मुनीम बनकर उपदेश दे रहा है तो वह क्या करेगा? इधर उधर की पुस्तको मे से कुछ बातें इकट्ठी कर लेगा, कुछ कला सीखेगा और कुछ कलाबाजी से उपदेश देकर वह भले ही श्रोताओ को प्रभावित भी कर लेता है, लेकिन वह प्रभाव मस्तिष्क और बुद्धि तक ही सीमित रहेगा, हृदय को नही छू सकेगा। अच्छा उपदेश दिया लेकिन उसका अन्त करण मे प्रवेश नही होता है। वह भी उपदेश कदाचित् मिलता है तो कई भाई उसको ग्रहण करने की चेष्टा करते हैं। शास्त्रो मे वर्णन आया है कि अभवी आत्मा को कभी मोक्ष नही होता। वह चाहे कितनी ही करणी करले, कितनी ही धर्म ध्यान की आराधना करले लेकिन यह हृदय मे भीजती नही है। भगवान् महावीर और अन्य तीर्थंकरो के वचन भी उनके अन्त करण में प्रवेश नही करते हैं। वचन एव व्यवहार को लेकर कभी ऐसा भी दिखाई देता है कि वह शुद्ध बन गया है, लेकिन वस्तुत वह साधारण करणी भी नही करता है, उसका मिथ्यात्व हटता नहीं है। वह पहले गुणस्थान तक भी नहीं पहुच पाता है।

आप सोचेंगे कि वह अभवी जीव गौतम स्वामी जैसी करणी को अपना रहा है, तब भी उसका मिथ्यात्व क्यों नही हटता है? उधर यह सोचते हैं कि भगवान् के वचनो पर श्रद्धा रखने वाला सम्यक दृष्टि होता है। चौथे गुण स्थान तक पहुच जाता है और उसमे भी आगे छठे गुणस्थान तक पहुच जाता है, फिर भी उसका वह मिथ्यात्व क्यों नही हटता? मिथ्यात्व नही हटने का कारण उसके स्वय के जीवन की स्थिति मे रहा हुआ होता है। वह साधना के क्षेत्र मे भी बहुत पुरुषार्थ करता है, लेकिन उसकी यह जिज्ञासा नही जागती है कि वह अपनी आत्मा का सम्पूर्ण विकास करके परमात्मपद को प्राप्त करे। वह तो ससार के अच्छे से अच्छे फलो की कामना करता है। उसके मन मे स्वय के भौतिक सुखों का स्वार्थ भरा रहता है। कोई पूछे कि अभवी ऐसा क्यो होता है तो यही कहना पडेगा कि उसका ऐसा ही स्वभाव है। जैसे दाल मे कोरडू रह जाता है—सीजता नही है,

वैसा ही स्वभाव अभवी का होता है। ऐसा अभवी भी उपदेश देता है और भगवान की वाणी का भी उपदेश देता है लेकिन तब भी उसके मन में यही होता है कि वह अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये ही उपदेश दे रहा है। इस रूप में उपदेश देने वाला अपना कोई विकास नही कर सकता है। मुनीम के तरीके से उपदेश देने वाले ऐसे भी होते हैं और दूसरे तरीके के भी होते हैं। वैसे ही सोचते हैं कि मुझे इस मार्ग का उपदेश देने में बहुत लाभ है—लोग मेरी बात सुनेंगे सत्कार करेंगे—यशकीर्ति देंगे और दुनिया में मेरी जाहो जलाली होगी। इस भावना को लेकर भी मुनीम की तरह एक उपदेशक उपदेश देता है।

उपदेशक की भावनाओं का उपदेशों में असर

कई उपदेशक इस भावना से उपदेश देते हैं कि इन लोगो को अच्छा उपदेश सुनाऊंगा तो ये लोग मुझे कुछ न कुछ भेंट देंगे। इन लोगों के मन के अनुकूल उपदेश सुनाऊंगा तो अधिक से अधिक धन देंगे। मुझे अमुक विषय में चन्दा करना है तो जनता को ऐसा उपदेश देना है कि वह अधिक से अधिक चन्दा दे। इस प्रकार भिन्न-भिन्न भावना के साथ भी उपदेशक अपना उपदेश देते हैं। जैसी जैसी उनके मन में वासनाए होती हैं, उन उन वासनाओ की पूर्ति की आशा में वे उपदेश देने की कोशिश करते हैं। तो वह सारा उधार होता है, निज की थाती नही होती। इस ढग से तो श्रोता भी कुछ लेते हैं, कुछ छोड़ देते है। कुछ भव्य उपदेश को ग्रहण भी करते हैं। लेकिन जो उपदेश देता है, उसकी योग्यता में फर्क है। वह उपदेशक जो भी कुछ कहता है, उस स्थिति मे सत्य हो सकता है लेकिन उसके कथन मे स्वार्थ का पुट होता है। वह स्वार्थ चाहे पैसो के रूप मे न हो, ख्याति पाने के रूप मे भी हो सकता है। इसलिये उसके कथन मे विकार आये बिना नही रहता है।

आप जिस टैंक से पानी ले रहे हैं, उस टैंक मे अगर किसी रग की पुड़िया घुली हुई है भले ही वह स्वल्प मात्रा मे हो, तब भी उस पानी मे उसका रग जरूर आयेगा। रग का कुछ न कुछ अश आये बिना नही रहेगा। वैसे ही हृदय रूपी टैंक मे व्यक्ति कही से भी पानी भरे—शास्त्रो की विधि से भी भरे, लेकिन हृदय मे जो कुछ भी भावना होती है उस भावना का रग उपदेश मे आये बिना नही रहेगा। यह अपूर्ण व्यक्ति की बात है।

लेकिन जिन आत्माओं ने अपने हृदय के विकारों को सम्पूर्ण रूप से धो दिया है, अन्तःकरण में किसी के प्रति कोई कटुता नहीं रह गई है और जो पवित्र विचारों में रमण करती हैं, उनके अन्दर में न धन की लालसा रही है और न यश, कीर्ति, पद अथवा प्रतिष्ठा की कामना बची है। ऐसे जो उपदेशक होते हैं, वे जन समुदाय पर अपना किसी रूप में भार नहीं डालते हैं तथा घर घर से स्वल्प आहार ग्रहण करते हुए शरीर की स्थिति से केवल निर्वहन की भावना लेकर चलते हैं। वे समाज से अत्यल्प लेते हैं और समाज को महत्तम देते हैं। दुनियां उनके उपदेशों को विश्वस्त दृष्टि से देखती है तथा लाभान्वित होती है। वे अपने अर्जित ज्ञान को अधिकतम उदारता के साथ वितरित करते हैं। कई ऐसे उपदेशक होते हैं जिनका स्वयं का सारा उपार्जित ज्ञान होता है तो ऐसी भव्य आत्माओं के उन्नतिशील उपदेशों पर भला किसको श्रद्धा नहीं होगी? उपदेशक की भावनाओं का ही उसके उपदेशों में सार होता है और जब उपदेशक इस प्रकार की अति समुन्नत आत्मा हो तो उनके उपदेशों का अवश्य ही श्रोताओं पर बड़ा गहरा एवं प्रेरणादाई असर पड़ता है।

शक्ति सम्पन्न से ही
आत्म शक्ति का मार्ग मिलता है

आप लोग किस पर विश्वास रख कर चल रहे हैं? आप कहेंगे कि हम महावीर भगवान् की वाणी पर विश्वास करते हैं। क्यों भला? क्या महावीर स्वामी आपके कुछ लगते हैं? आपके वे दादा थे, परिवार के थे या अन्य सम्बन्धी थे—यह तो आप नहीं कह सकते क्यों कि आप तो अलग-अलग जातियों के अन्तर्गत हैं। कोई ओसवाल अग्रवाल, माहेश्वरी, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि। भगवान् महावीर शरीर और कर्म की दृष्टि से क्षत्रिय थे फिर आपने उनकी बातों और आज्ञाओं को क्यों अंगीकार की?

इसलिये कि महावीर प्रभु ने अपनी आत्मशक्ति की सफल शोध की, स्वयं शक्ति सम्पन्न बने तथा शक्ति सम्पन्न बनकर उन्होंने संसार के समस्त प्राणियों को शक्ति सम्पन्न बनने का मार्ग भी बताया। उन्होंने सांसारिक पदार्थों तथा विकारों का परित्याग किया. जंगल में पहुंच कर वे घोरतम तपाचरण में रत रहे तथा चमत्कारिक स्वरूप में पावन बन गये। तब वे क्षत्रिय कुल का गौरव मात्र ही नहीं रहे बल्कि सारे जगत के हो गये। केवल ज्ञान प्राप्त करके जगत् हित की भावना से ही उन्होंने चार तीर्थों की स्थापना की

उपदेश दिया । उस उपदेश दान में उनका अपना कभी कोई प्रयोजन नहीं था कि उस कारण वे उपदेश देते । विशुद्ध लोक कल्याण की भावना ही उसके पीछे थी शक्ति सम्पन्न विभूति के हाथो ही लोक कल्याण सधता है और उन्ही की दिव्य वाणी से आत्मशक्ति का मार्ग मिलता है ।

ऐसे परम ज्ञानी उपदेशक सर्वोत्कृष्ट उपदेशक होते हैं । फिर छद्मस्थ साधक भी इसी दृष्टि से उपदेश देते हैं कि उनके कर्मों के आवरण हटें, आत्मशुद्धि बढे तथा लोगो मे भी आत्मसाधना के प्रति अभिरुचि जगावें । शास्त्रकारो ने बताया है कि यदि वक्ता निःस्वार्थ भाव से और विधि पूर्वक उपदेश देता है तो उसके कर्मों की निर्जरा होती है । वह आत्मशुद्धि और आत्मशक्ति के मार्ग पर अग्रसर बनता है । श्रोता भी इसी भावना से उपदेश ग्रहण करते हैं तो उनकी भी निर्जरा और आत्मशुद्धि होती है । भगवान् ने केवल ज्ञान प्राप्त कर लिया तथा उनको अपने लिये उपदेश देने की कोई आवश्यकता नही थी, लेकिन सारे जगत् के प्राणियों पर करुणा भाव लाकर अत्यन्त आत्मीय भावना के साथ उन्होने उपदेश दिये । प्रश्नव्याकरण मे सूत्र आया है—

सव्व जग जीव रक्खण दयट्ठयाए
भगवया पावयण सुकहिय ।

भगवान् ने जो उपदेश दिये, वे सर्व जगत् के जीवों की रक्षा रूपी दया से अनुप्रेरित थे । जगत् के प्राणियों के प्रति उनका करुणा भाव उमड रहा था और उनकी देशनाओ मे यह मानिये कि उनकी अपूर्व करुणा का प्रवाह ही प्रवाहित हुआ है । इसी के द्वारा सबको आत्म शक्ति के शोध की प्रेरणा प्राप्त होती है ।

आध्यात्मिक आनन्द का प्रवाह

व्यापारी बडा चतुर व्यक्ति होता है । उसमे बुद्धि की अधिक क्षमता होती है । ऐसे परम ज्ञानी वीतराग देवो के उपदेशो को वह बडे ध्यान से सुनता है । वह जानता है कि ये उपदेश बिल्कुल रागविहीन हैं । ऐसा उपदेश सुनेंगे तो जरूर कुछ पा लेंगे। व्यापार की चतुराई खास करके उसकी परख में होती है । वह उपदेश को परख लेता है तो उसकी तरफ झुक जाता है । व्यापार का किसी जाति से आज के युग मे विशेष सम्बन्ध नही है लेकिन व्यापारी में बुद्धिकौशल होता है और क्षीरनीर विवेक भी होता है । यही कारण है

कि विशेष रूप से बुद्धिवादी व्यक्ति भगवान् महावीर की वाणी पर अधिक मुग्ध हैं ।

प्रत्येक चतुर अपनी आत्म शक्ति की शोध मे रहता है कि वह दूसरों पर आश्रित नही रहे । उसमे स्वाश्रय की भावना होती है । वह जानता है कि भीतरी शक्ति प्रकट हो जाती है तो उस व्यक्ति का आध्यात्मिक बल शुद्ध हो जाता है, वह आत्म निष्ठ भी हो जाता है । तब उसी व्यक्ति के अन्तःकरण से आध्यात्मिक आनन्द का प्रवाह प्रस्फुटित होता है । वह प्रवाह दिव्य होता है ।

आध्यात्मिक आनन्द के इस प्रवाह को प्रस्फुटित करने के लिए सबसे पहले जीवन्त जिज्ञासा को जगाइये ताकि अधिक से अधिक आत्मिक ज्ञान की उपलब्धि कर सकें । वीतराग वाणी को हृदयगम कर सकें । महावीर प्रभु के वचन किस अनुपम वात्सल्य भावना से दुनिया के प्राणियो को सम्बोधन देते है विना आत्मजागरण के यह तुम्हारा शरीर—तुम्हारा जीवन अबल है । आप कहेगे, शरीर कैसे अबल है ? क्या उसमे बल नही है ? बल है, लेकिन कैसा बल है ? जो आध्यात्मिक बल से शून्य है, वह अबल ही है क्यो कि भौतिक बल चाहे कितना ही क्यो न हो—आध्यात्मिक बल के सामने मूल्यहीन होता है ।

बनारस विश्व विद्यालय के एक छात्र की घटना है । छात्र का नाम गौरीशंकर था । उसने ऊंचा अध्ययन किया था, अहंकार आ गया था । वह अपने गांव की ओर चला । उसने यही सोचा कि वह शास्त्रार्थ करेगा, सामने वालों को हरायेगा और धन व ख्याति का लाभ अर्जित करेगा । यह सोचकर चलते हुए वह रास्ते के प्रत्येक गांव मे शास्त्रार्थ के लिए पंडितों को ललकारता और शर्त रखता कि कोई मुझे हरा देगा तो उसको मैं अपने सब पोथी पत्र जो पीछे गाड़ी मे लदकर आ रहे हैं, दे दूंगा और मैं जिसको हरा दूंगा वह मुझे सोने की एक पुतली भेंट करेगा । इस तरह वह रास्ते के सारे गांवों मे अपनी विजय पताका फहराता हुआ बावन सोने की पुतलियां लेकर अपने गांव के नजदीक पहुंचा । केवल एक गांव बीच में रह गया था । उसके गांव मे उसका भाई समारोहपूर्वक स्वागत की तैयारियां कर रहा था ।

बीच के इस गांव में भी इसने अपना डेरा डाल दिया । उस गांव मे पंडित ही नहीं थे । केवल एक जैन श्रमण विद्वान था—ज्ञानसागर ।

अब चलेंज फैंक दिया तो पटेलो के सामने उमाशंकर भी नीचा नही देखना चाहता था ! वहा कोई निर्णायक विद्वान नही था इसलिये पाच पटेल ही निर्णायक बने । उमाशकर ने शर्त रखी कि आप काशी के बडे विद्वान है सो मैं हार जाऊगा तो आपको सोने की पुतली भेंट करूगा ही लेकिन यदि आप हार जाय तो गाडी भर पुस्तको के साथ आपको बावन सोने की पुतलिया भी देनी पडेगी । गौरीशकर ने शर्त मान ली और उसको प्रश्न पूछने को कहा ।

उमाशकर ने पूछा—गटागट का क्या अर्थ है । गौरीशकर उलझन मे पड गया कि यह शब्द तो किसी पुस्तक मे आया ही नही है । वह सकपकाने लगा । निर्धारित समय समाप्त हो गया तो पटेलो ने निर्णय दे दिया गोरियो हारियो ने उमियो जीतियो । गौरीशकर को जीत का सारा माल दे देना पडा । अब वह निराश होकर अपने गाव मे पहुचा, जहाँ स्वागत की तैयारिया थी । बडे भाई ने बात सुनी तो वह हार का बदला लेने के लिये उसी समय उमाशकर के गाव पहुचा । वहा उसने शास्त्रार्थ का चैलेंज फैंका और बावन पुतलियो की शर्त रख ली । पटेल निर्णायक बन गये । उमाशकर ने सोचा कि जिस प्रश्न से गौरीशकर को हराया है, वही प्रश्न मशाशकर को भी पूछ लें । उसने पूछा गटागट किसे कहते हैं । प्रश्न सुनते ही मशाशकर ने लाल आखे करके जोर से एक चाटा उमाशकर के गाल पर लगा दिया और बोला-तुझे यह भी तमीज नही है कि पहले कौनसा प्रश्न पूछना और बाद में कौनसा प्रश्न पूछना । पहले का पता नही और बाद की बात पूछता है ? पहले, पहले का प्रश्न पूछ और याद नही हो तो हार मान । उमाशकर ने हार मान ली तो पटेलो ने पूछा—वह पहला प्रश्न आप तो बताओ । तब मशाशकर ने कहा—बीज बीजा, उग उगा, पत्त पत्ता, फल फला, रस रसा और फिर गट गटा । पटेलो को भी बात समझ में आ गई । उमाशकर को गौरीशकर की बावन पुतलिया लौटानी पडी । कहने का अभिप्राय यह है कि सकट में केवल बुद्धिबल अथवा आत्मबल ही काम देता है । आत्मशक्ति का आश्रय ही सर्वश्रेष्ठ होता है ।

आत्मशक्ति प्राप्त कीजिये !

म बता रहा था कि भगवान् महावीर के वचन कितने सारपूर्ण है ? क्या आप उनको ध्यान से सुनते है ? मनुष्य का शरीर अबल है, उसकी बुद्धि अबल है । सबल है तो केवल उसकी आत्मशक्ति । लेकिन उसको इन्सान

गमभता नहीं, उनकी तरफ उसका ध्यान नहीं। यह भगवान् की वाणी उसका ध्यान दिलाने के लिये ही सुनाई जाती है। अपनी जागृति को जीवन्त बनाइये और आत्म शक्ति की खोज में निकल पड़िये।

दि २ ८ ७७

जगाना पंडित को, प्रतिबुद्धजीवी को

श्री सुपार्श्व जिन वदिए............. .

परमात्मा के पवित्र चरणो मे जब कभी वन्दन का अवसर आता है और उस वन्दन के साथ उनके पवित्र स्वभाव एव विशुद्ध ज्ञान की पवित्रता मन मे व्याप्त होती है तो वह क्षण इस जीवन के लिये अत्यन्त महत्वपूर्ण बन जाता है । जब कभी भी मनुष्य के उद्धार होने का प्रसग आएगा— उस पवित्रतम स्वरूप को प्रकट करने का अवसर मिलेगा, उस वक्त इस आत्मा का प्रभाव एव आत्मि शक्ति का रूप वर्तमान के स्वरूप से बहुत भिन्न होगा ।

वर्तमान मे यह दिव्य आत्मा इस मनुष्य के चोले मे अवश्य रह रही है, लेकिन वह अपने ही स्वरूप से अनभिज्ञ है । इस शरीर के आश्रय से वह जी रही है, परन्तु उसका जीना इस शरीर तक ही सीमित बना हुआ है । मुख्य प्रश्न या समस्या कह दे तो वह यही है कि आत्मा को आत्मा के रूप मे जीना चाहिये या आत्मा को शरीर रूप मे जीना चाहिये ? आत्मा जो स्वय के रूप मे नही जीती है, उसको अपने रूप मे जीने की अभ्यासी कैसे बनावें ?

इस अभ्यास के लिये ज्ञान की आवश्यकता है । जिसको सम्यग्ज्ञान है, वह पडित कहलाता है और जो अपने आत्म विकास के प्रति जागृत होकर चल रहा है उसको प्रतिबुद्धजीवी कहते हैं तो पडित और प्रतिबुद्धजीवी को भगवान् ने विशेप सन्देश जागने का दिया है कि वे आत्म स्वरूप को प्राप्त करें ।

पुरुष : आत्मा मे जीनेवाले अथवा शरीर मे जीनेवाले

आत्मा का आत्म रूप मे जीना या शरीर रूप में जीना – ये ही दो

पंडित और प्रतिबुद्धजीवी को प्रभु का सन्देश क्यों ?

आप सोचेंगे कि भगवान् महावीर ने यह जो उपदेश दिया, वह पण्डित और प्रतिबुद्धजीवी को क्यो दिया, जबकि वे पण्डित और प्रतिबुद्धजीवी है ? उनको उपदेश की आवश्यकता ही क्या है ? यो देखें तो यह विचार उठता है कि उपदेश तो उनको दिया जाना चाहिये जो पडित या प्रतिबुद्धजीवी नही है और जो गफलत मे पडे हुए हैं या जिनकी बुद्धि समुचित रूप से प्रस्फुटित नही हुई है । उपदेश तो प्रतिबुद्धजीवी की बजाय अन्नोपजीवियो को दिया जाना चाहिये । इन्हे अन्न प्रतिजीवी भी कह सकते है । प्रतिअन्नजीवी या प्रतिशरीर जीवी वे है जो अपने ही आत्मस्वरूप के प्रति सज्ञाहीन हैं तथा अन्न आदि को ही अपने जीवन का सर्वस्व मानकर चल रहे हैं । 'शरीर मे रहते हुए शरीर ही मेरे लिये सबकुछ है,—ऐसी धारणा रखने वाले व्यक्तियो को सम्बोधन करने से वे जग सकते हैं और वे भगवान् के इन वचनो के वास्तविक अधिकारी बन सकते हैं । उन को सम्बोधित नही करके भगवान् ने पण्डित और प्रतिबुद्धजीवी को जो सम्बोधन दिया हैं, आखिर उसमे क्या रहस्य है ?

क्या कोई यह तो नही कह देगा कि भगवान् ने भी घी मे घी डाल दिया ? दुनिया मे कहावत है कि घी मे घी डाल दिया अर्थात् धनवानो ने धनवानो से सम्बन्ध जोड लिया, पूजीपति है उन्ही को पूजी दी लेकिन जो पूंजीपति नही है, गरीब या अनाथ है, उनको कुछ भी नही दिया । पानी बरसा तो सारा समुद्र मे ही बरसा–वह अकुरित होती हुई खेती पर नही बरसा तो उस बादल ने यह क्या किया ? बादल अगर समुद्र मे ही बरसता है और खेतो मे नही बरसता तो दुनिया वैसे बादलो को अवश्य उपालभ देगी इस उद्घोषणा से भी, जिन्होने महावीर प्रभु के दिव्य स्वरूप को नही समझा है, उनकी ऐसी भावना बन सकती है कि वैसे बादलो की तरह भगवान् ने भी अपनी उपदेश धारा पडितो और प्रतिबुद्धजीवियो पर बरसाई है लेकिन अज्ञानियो और शरीरजीवियो को उन्होनें छोड दिया है । उन्होनें पडितो को प्रेरणा दी तो अज्ञानियो को प्रेरणा क्यो नही दी ? प्रश्न प्रश्न के तरीके से सामने आता है और प्रत्येक व्यक्ति वर्तमान वायु मण्डल मे ही इसको लेता है, लेकिन बात कुछ और है ।

भगवान् ने जो पण्डित, प्रतिबुद्धजीवी तथा आशुप्रज्ञ को सम्बोधित किया है, वह सम्बोधन उनके ज्ञान की सबसे बड़ी विशिष्टता का द्योतक है। जो व्यक्ति शरीर जीवी होता है, उसका सारा ध्यान पेट की पूर्ति में ही लगा रहता है। रात दिन उसके मन में अन्न ही अन्न घूमता है, वह अन्न को सबसे बड़ा मानकर चलता है तथा सोते जागते उठते-बैठते उसको अन्न का ही ध्यान रहता है। जो व्यक्ति बढ़िया से बढ़िया भोजन को ही जीवन का ध्येय मान लेता है, उस व्यक्ति को कितना ही उपदेश दिया जाय, वह उस उपदेश को स्थिर मन से सुन नहीं सकता है। इसलिये जागृत को पहले मार्ग दर्शन दिया जाय—यह समीचीन होता है।

उपदेश मांगने वाले को उपदेश देने से धर्म-लाभ

समझिये कि एक शिक्षक के पास दो शिष्य हैं। एक अध्ययन में पूरी अभिरुचि रखने वाला और दूसरा उस अभिरुचि से विहीन, तो दोनों में से कौन पहले अध्ययन करेगा और शिक्षक किसको पहले सम्बोधन देना चाहेगा? स्वाभाविक है कि अभिरुचि को ही प्राथमिकता मिलेगी। यह हो सकता है कि अभिरुचि वाले शिष्य के विकास को देखकर बिना अभिरुचि वाला शिष्य भी प्रेरणा प्राप्त करेगा। इसी रूप में उपदेश मांगने वाले को उपदेश देने से विशेष धर्मलाभ हो सकता है। लेकिन जो उपदेश की बजाय पहले अन्न मांगता है और उसका ध्यान अन्न में लगा हुआ है, वह उस उपदेश का सामान्य मूल्यांकन भी नहीं कर पायगा यह दृष्टिकोण उस शिक्षक की तरह उपदेशक के भी ध्यान में रहता है।

वाक्य लिखा है कि "मैं सर्वज्ञ नही हूं, मुझे कोई सर्वज्ञ कहता है, वह झूठ बोलता है ।" तो वे अपने आप को सर्वज्ञ नही मानते थे । उन्होंने ऊचा विकास किया था और वे अपने ढग के महात्मा थे । लोग बुद्ध महावीर को समकक्ष रखते हैं, वे महावीर की सर्वज्ञता के साथ न्याय नही करते हैं । बुद्ध का ज्ञान स्थूल पदार्थों की तरफ था । उन्होने उस आगन्तुक व्यक्ति को पहले उपदेश नही दिया, पहले भोजन दिलाया । जब भोजन से तृप्त होकर वह वापस लौटा तो उसने फिर निवेदन किया—महात्मन् मैं तो आपके यहा भोजन करने के लिए नही आया था, उपदेश सुनने के लिए आया था । आपने उपदेश नही देकर पहले भोजन कराया, इसका क्या तात्पर्य है ? तब बुद्ध ने कहा तुमने भोजन मांगा नहीं, लेकिन बताओ तुम्हारा मन क्या चाह रहा था ! ऐसा लगता था कि तुम दो तीन दिन से भूखे थे और भूखा आदमी पहले रोटी खाना चाहता है । भूखा रहना और तपस्या करना अलग अलग बातें हैं । इच्छापूर्वक तपस्या करके उपदेश मागते तो उस वक्त उपदेश सुनाना योग्य होता, क्यो कि तुम्हारी भावना अन्न की तरफ नही होती-उसमे उपदेश की भूख दिखाई देती । वह उपदेश की भूख मुझे तुम्हारे मे नही दिखाई दी तो मैं तुमको उपदेश क्या सुनाता ? मैं आत्म शान्ति का उपदेश सुनात तब भी तुम अन्न को ही सुनते । अब तुम्हारा मन अन्न की स्थिति से निवृत हुआ है, इसलिये अब चाहो तो उपदेश सुनाने को मैं तत्पर हू ।

यह एक रूपक है जिससे आप जान पायेंगे कि जिस व्यक्ति के मन मे अन्न बैठा हुआ हो, वह उपदेश कितनी गहराई से सुन सकेगा ? अन्नजीवी पहले प्रतिबुद्ध जीवी बने—यह उपदेश ग्रहण करने की आवश्यक स्थिति है ।

प्रतिबोध उसको, जो अन्न के लिये नहीं, बोध पाने के लिये जी रहा है

इसलिये भगवान् महावीर ने प्रेरणा प्रतिबुद्धजीवी को दी है । प्रतिबोध उसको, जो अन्न के लिये नही, बोध पाने के लिए जी रहा है, क्यो कि वही बोध को सम्यक रुप से ग्रहण करता है । प्रतिबुद्धजीवी का तात्पर्य है कि जो बोध के लिये तथा सिर्फ बोध के लिये जीता है, इसीलिये वैसे व्यक्ति को सम्बोधन दिया गया है । जिसको जिन बात की भूख है—जैसी उसकी अभिलाषा है, उसको वही चीज रुचिकर होगी । किसी की अभिलाषा भौतिक तत्वो की है और उसको आध्यात्मिक बोध दिया जाय तो वह उसके पल्ले नही पडेगा ।

कि अन्न के लिये नही, बोध के लिये जिओ। अन्न बोध का सहायक बने।

प्रतिबुद्धजीवी जीने के लिये खाता है खाने के लिये नहीं जीता

प्रतिबुद्धजीवी जीने के लिये खाता है, खाने के लिये नही जीता। वह समझता है कि धर्मसाधना मे यह शरीर सहायक होता है और शरीर के निर्वहन के लिये अन्न आवश्यक है। अन्न कैसा पका हुआ है—इसमे उसकी कोई दिलचस्पी नही होती है। उसका लक्ष्य तो शरीर का किसी भी प्रकार निर्वाह करके धर्म साधना करने का होता है। इसी दृष्टि से एक साधु के लिये विधान है कि वह जब गृहस्थ के घर मे भिक्षा लाने जावे और चौके मे कुछ अधेरा होने से श्रावक बिजली का बटन दवा दे तो साधु को भिक्षा छोड कर चले आना चाहिये क्यो कि अपने शरीर तुल्य दूसरी आत्माओ के जीवन का घात किया जाय, वह उचित नही होता है। जहा बिजली का आरम्भ है वहा छ. काया का आरम्भ है। अत बिजली जला कर उन जीवो की घात कर दी तो साधु को वहा भिक्षा नही लेनी चाहिये। ऐसी बारीक स्थिति का प्रतिपादन बयालीस दोषो मे किया गया है, जिनको टालकर भिक्षा लेने का विधान है।

इसी दृष्टि से गृहस्थ के यहा से आयी वस्तु को समभाव से ग्रहण करना चाहिये। एक साधु को स्वाद की तरफ प्रवृत्त नही होना चाहिये। नमक कम ज्यादा है तो क्या अथवा रोटी गेहूं की है तो क्या या मक्की की है तो क्या या शाक मे स्वाद है या नही इन सब बातो की तरफ साधु का ध्यान नही जाना चाहिये। वह तो यही सोचे कि मुझे भोजन करने के लिये भोजन नहीं करना है, बल्कि शरीर को धर्म साधना मे चलाने के लिये ही भोजन करना है। इस प्रकार की भावना के साथ जो अन्न ग्रहण करता है, वह प्रतिबुद्धजीवी होता है और इसी कारण भगवान के बोध का प्रथम अधिकारी बनता है।

इसके विपरीत यदि साधु इसमे माथा लगाता है कि कैसे गृहस्थ हैं इतना भी विवेक नही कि नमक डालना भूल गये तो शास्त्रकार कहते हैं कि वह साधु होते हुए भी प्रतिबुद्धजीवी नही है। वह सयम का धुआ निकाल रहा है जहां साधु के लिये बारीकी से विशलेषण किया गया है, वहा गृहस्थ

नही होती तो गौतम गणधर भगवान् से यह प्रश्न नही पूछते । यह मौलिक प्रश्न है ।

अभी की दुनिया यह सोचती है कि जो गृहस्थ करता है, वह पाप ही करता है तथा जो साधु करता है, वह धर्म ही धर्म करता । यह बात महावीर की नही, लोगो की है । ऐसी पक्षपातपूर्ण बात भगवान् नही कहते हैं । वे यह कहते हैं कि जो साधु रसलोलुपता करता है, वह पाप करता है। और जो गृहस्थ रसलोलुपता का त्याग करता है, वह धर्म कमाता है, । जहां तक सुबाहुकुमार का प्रश्न है, इस चर्चा से आप सोचें कि गृहस्थाश्रम मे रहने वाले व्यक्ति का भी क्या दृष्टिकोण रहना चाहिये ? उसका मन किसमें रहे ? सिर्फ अन्न, वस्त्र, मकान, तिजोरी, कामवासना तथा पाचो इन्द्रियो की लोलुपता मे ही मन लगा रहे या वह उत्कर्ष की दूसरी दिशाए पकडे । उसके मन मे यह रहना चाहिये कि तीन मनोरथ तथा उत्तम भावना का चिन्तवन चले । उनमे से एक मनोरथ यह है कि एक दिन वह सारे आरभ-समारभ का का त्याग करके पवित्रात्मा बनने की दिशा मे आगे बढेगा । उस मनोरथ की भावना के साथ वह प्रतिबुद्धजीवी बनता है ।

कोई कितना ही अक्षरज्ञान करले तथा बडा विद्वान् बन जाय, लेकिन जिसके मन से पांच इन्द्रियो की लालसाए नहीं निकले तो वह विद्वान होते हुए भी सही अर्थों मे पडित नही कहला सकता है । और पडित नही तो उपदेश का पात्र भी नही । उपदेश का पात्र वही बन सकता है जो पाच इन्द्रियो के विषयो से-मन और शरीर से ऊपर उठ जाता है, भीतर का ज्ञान पाने की तीव्र अभिलाषा रखता है । तथा रात दिन साधना मे एकाग्र बन जाता है । वह पंडित भी है तथा प्रतिबुद्धजीवी भी है-भले ही वह पडित नही कहलाता हो ।

पंडित कौन
प्रतिबुद्धजीवी कौन ?

मैं यह बतला रहा था कि एक व्यक्ति विद्वता से परिपूर्ण हो सकता हैं, फिर भी पडित की संज्ञा नही पा सकता । दूसरा व्यक्ति ऐसा होता जो पडित से बढकर कार्य करता है-चाहे उतना विद्वान न हो । ज्ञान को जो आचरण मे लाता है और आचरण मे स्थिरता से चलता है-बोधपूर्वक चलता है, वही पडित अथवा प्रतिबुद्धजीवी कहलाता है ।

नही होती तो गौतम गणधर भगवान् से यह प्रश्न नही पूछते । यह मौलिक प्रश्न है ।

अभी की दुनिया यह सोचती है कि जो गृहस्थ करता है, वह पाप ही करता है तथा जो साधु करता है, वह धर्म ही धर्म करता । यह बात महावीर की नही, लोगो की है । ऐसी पक्षपातपूर्ण बात भगवान् नही कहते हैं । वे यह कहते हैं कि जो साधु रसलोलुपता करता है, वह पाप करता है। और जो गृहस्थ रसलोलुपता का त्याग करता है, वह धर्म कमाता है, । जहां तक सुबाहुकुमार का प्रश्न है, इस चर्चा से आप सोचें कि गृहस्थाश्रम मे रहने वाले व्यक्ति का भी क्या दृष्टिकोण रहना चाहिये ? उसका मन किसमें रहे ? सिर्फ अन्न, वस्त्र, मकान, तिजोरी, कामवासना तथा पाचो इन्द्रियो की लोलुपता मे ही मन लगा रहे या वह उत्कर्ष की दूसरी दिशाए पकडे । उसके मन मे यह रहना चाहिये कि तीन मनोरथ तथा उत्तम भावना का चिन्तवन चले । उनमे से एक मनोरथ यह है कि एक दिन वह सारे आरभ-समारभ का का त्याग करके पवित्रात्मा बनने की दिशा में आगे बढेगा । उस मनोरथ की भावना के साथ वह प्रतिबुद्धजीवी बनता है ।

कोई कितना ही अक्षरज्ञान करले तथा बडा विद्वान् बन जाय, लेकिन जिसके मन से पांच इन्द्रियो की लालसाएं नहीं निकले तो वह विद्वान होते हुए भी सही अर्थों मे पडित नही कहला सकता है । और पडित नही तो उपदेश का पात्र भी नही । उपदेश का पात्र वही बन सकता है जो पाच इन्द्रियो के विषयो से-मन और शरीर से ऊपर उठ जाता है, भीतर का ज्ञान पाने की तीव्र अभिलाषा रखता है । तथा रात दिन साधना में एकाग्र बन जाता है । वह पंडित भी है तथा प्रतिबुद्धजीवी भी है- भले ही वह पडित नही कहलाता हो ।

पंडित कौन
प्रतिबुद्धजीवी कौन ?

मैं यह बतला रहा था कि एक व्यक्ति विद्वता से परिपूर्ण हो सकता हैं, फिर भी पडित की संज्ञा नही पा सकता । दूसरा व्यक्ति ऐसा होता जो पडित से बढकर कार्य करता है-चाहे उतना विद्वान न हो । ज्ञान को जो आचरण मे लाता है और आचरण मे स्थिरता से चलता है-बोधपूर्वक चलता है, वही पडित अथवा प्रतिबुद्धजीवी कहलाता है ।

एक ऐतिहासिक घटना है । राजा भोज की राजसभा में कालिदास आदि बहुतेरे पडित एकत्रित हुआ करते थे तथा बहुतेरी चर्चाए चलती थी । एक दिन एक ऐसा नया विद्वान उपस्थित हुआ जो बौद्धिक दृष्टि से कलावान् एव शास्त्रार्थ मे विजेता था । उसके मस्तिष्क मे यह ध्यान बध गया था कि मुझसे शास्त्रार्थ मे कोई जीत नहीं सकता है और मेरे से चर्चा करते हुए यदि कोई आकाश में भागना चाहे तो । निशरणी लगाकर उसको पकड कर नीचे ले आऊ यदि हार कर पाताल मे घुसना चाहे तो कुदाली से खोद कर निकाल दू और यदि तिरछे लोक में जावे तो कमर से बांध ल । इसके तीनों साधन उसने जुटा रखे थे । प्रतीक स्वरूप एक निशरणी, एक कुदाली और एक रस्सी वह हर समय अपने पास रखता था । राजा भोज की सभा मे भी उसने अपनी विजय का डका पीटा । वहा पडितों ने विचार किया कि इसके साथ चर्चा करने मे कोई सार निकलने वाला नही है लेकिन इसके दिमाग को ठीक करने के लिये कोई दूसरा उपाय ढू ढना चाहिये । दूसरे दिन का समय शास्त्रार्थ के लिये नियत कर लिया गया तथा आगन्तुक विद्वान को विश्राम करने के लिये भेज दिया । शर्त यह रही कि जो हारेगा, वह हराने वाले का शिष्य बन जायगा ।

कालिदास ने सोचा कि इसके लिये ऐसा व्यक्ति खोजा जाना चाहिये जो मन से एकाग्र हो । अक्षर ज्ञान जरूरी नही, लेकिन उसका मन सधा हुआ हो । जब वह घूमने जा रहे थे तो उनकी नजर एक गागा नामके तेली पर पडी जो घाणी चलाता था । उसके मन मे एकाग्रता इतनी थी कि वह घाणी चलाता हुआ वहां से तेल लेकर दूर पडी हुई हडिया मे घाणी पर बैठा बैठा ही डाल देता था लेकिन तेल की एक बूद भी नीचे नहीं गिरती थी । सभी पडितो से सलाह करके कालिदास ने यह निश्चय किया कि आगन्तुक विद्वान का इस गांगा तेली से शास्त्रार्थ कराया जाय । कालिदास ने गागा तेली को समझा दिया कि उसको कुछ नही बोलना है, वह बैठा रहे, बाकी काम हम सब कर लेंगे ।

दूसरे दिन राजा भोज की सभा जमी । एक ओर आगन्तुक विद्वान तथा दूसरी तरफ गागा तेली शास्त्रार्थ के लिये बैठ गये । वहा के विद्वानों ने आगन्तुक से कहा–ये हमारे गुरुजी हैं, आप इनके साथ शास्त्रार्थ कीजिये । ये

मुंह से नही बोलेंगे, केवल इशारो से ही बातें करेंगे। यदि आप जीत गये तो आपको प्रमाणपत्र मिलेगा और हार गये तो अब तक के सारे प्रमाणपत्र छीन लिये जायेंगे। आगन्तुक विद्वान उस विचित्र आकृति को देखकर यह समझ बैठा कि यह तो कोई बहुत बडा विद्वान मालूम होता है–इसको सबसे पहले क्या पूछू ? बोलना तो था नही, उसने एक अंगुली हिलाकर इशारा किया। गागा तेली ने सोचा-यह मेरी एक आख फोडना चाहता है तो मैं इसकी दोनो आखें फोड दू गा। यह सोचकर उसने अपनी दो अंगुलिया हिलाई उस विद्वान को अपना उत्तर मिल गया। तब उसने अपनी पांचो अंगुलिया ऊची की। तेली ने सोचा कि वह मेरे चांटा मारना चाहता है तो उसने अपना मुक्का दिखाया। उस उत्तर ने भी आगन्तुक विद्वान को संतुष्ट कर दिया। वह तो तेली के पैरों मे गिर पडा कि मैं हारा, आप मेरे गुरु और मैं आपका चेला। सभी पडित मन ही मन मुस्कुराए। आगन्तुक पंडित से उन्होनें पूछा–हो गया आपका शास्त्रार्थ ? उसने कहा- आपके गुरुजी बहुत बडे विद्वान हैं। वे तो जानते थे कि तेली कैसा विद्वान है ? लेकिन उसकी क्या विद्धत्ता इसको दिखाई दी–यह इसी से पूछना चाहिये। उन्होने पूछा–आपके क्या प्रश्न थे और गुरुजी ने उनके क्या उत्तर दिये ?

आगन्तुक पडित ने कहा–मैंने एक अंगुली के इशारे से यह कहना चाहा था कि इस ससार मे एक ही ब्रह्म है, लेकिन आपके गुरुजी ने उत्तर दिया नही दो तत्त्व हैं–ब्रह्म और माया, जड और चेतन तथा प्रकृति और पुरुष। इसलिये वे जीत गये। फिर मैंने पाचों अंगुलिया दिखाकर बताया कि ये पाच इन्द्रियां परमात्मा को पाने मे बाधक है तो उन्होने मुट्ठी दिखाकर उत्तर दे दिया कि इन्द्रियो को वश मे कर लो। आपके गुरुजी बडे विद्वान् हैं मै हार गया।

मैं आपको बता रहा था कि पडित और प्रतिबुद्धजीवी कौन होता है ? जिसके मन की एकाग्रता सध जाती है और जो पांचो इन्द्रियों के विषयो पर काबू पा लेता है, वही यथार्थ मे सच्चा पडित और प्रति–-बुद्धजीवी बन जाता है।

पंडित और प्रतिबुद्धजीवी जगेगा तो फिर दूसरे भी जगेंगे

भगवान् ने प्रतिबुद्धजीवी तथा पडित आदि को जो जगाने का सन्देश

प्राथमिकता के आधार पर दिया है, उसका यही रहस्य है कि जो प्रतिबोध लेने मे एकाग्र बन जाएगा, वही उस प्रतिबोध को निष्ठापूर्वक आत्मसात् कर सकेगा। इस कारण उसे पहले जगाया जाता है तो वह दूसरों की जागृति को अनुप्रेरित कर सकेगा।

प्रत्येक भव्य आत्मा को इस रूप मे पडित और प्रतिबुद्धजीवी बनना चाहिये तथा एकाग्रमन से भगवान् के उपदेश सुनने चाहिये व जीवन मे उतारने चाहिये।

दि. ४. ६. ७७]

आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रियाएं

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए.................

'जिन' भगवान् की इस विश्व पर महती कृपा रही है। उन्होंने भव्य जीवो के लिये जो आत्मोत्कर्ष का दिव्य मार्ग बताया—आध्यात्मिक पवित्र शुद्धि के लिये जिस सत्पथ का निर्देश दिया, वह निर्देश और उपदेश आज भी मिल रहा है। यद्यपि इस भूमि पर महाविदेह क्षेत्र मे विराजित साक्षात् जिन भगवान् के मुखारविंद से तो वह उपदेश अभी नही मिल रहा है लेकिन उनके उपदेशो का जो संकल्प गणधरों ने किया, वह सकल्प आज के इस अशान्त विश्व मे शान्ति का सन्देश बनकर जन मानस को आह्लादित करने मे पूर्णतः समर्थ है, परन्तु उन उपदेशो से आह्लादित होने वालो की भी आवश्यकता है।

यह आत्मा चातक पक्षी की तरह वीतराग अवस्था की भावना को मन मे रखकर उपदेशो को श्रवण करने मे और उनके अनुसार अपना आत्म-पुरुषार्थ नियोजित करने मे तत्पर बन जाय तो वह अपना विशेष हित सम्पादित कर सकती है। केवल श्रवण मात्र से भी कल्याण होने वाला नही है। सुनने को श्रद्धा के साथ पूरा करें तो उससे आत्म ज्ञान की प्राप्ति होगी, किन्तु उसके साथ ही श्रद्धा के साथ उस पर आचरण करेंगे तब आत्मा का परिपूर्ण कल्याण हो सकेगा। आचरण में विशेष पुरुषार्थ की आवश्यकता होती है। वैसे तो ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य तीनो की आराधना आत्म पुरुषार्थ से ही संभव होती है, लेकिन चारित्र्य की साधना मे पूर्ण पुरुषार्थ का नियोजन होना चाहिये। इसी रूप मे आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रियाएं इस जीवन में जब कार्यरत बनती हैं तो जीवन का विकास त्वरित गति से उत्कृष्ट से उत्कृष्टतर तथा उत्कृष्टतम अवस्था तक पहुच सकता है।

की बात कही है, शायद आपको मालूम न हो- धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय, काल, पुद्गलास्तिकाय और जीव रूप इन षड्द्रव्यो मे से काल के विषय मे भगवान् ने एक दूसरे स्थल पर कहा है कि इस पर विश्वास मत करो—"घोका मुहुत्ता अवल शरीरं, भारड पक्खी व चरेऽपमत्तो ।"यह मुहूर्त यह काल घोर है, निर्दयी है । एक समय मात्र का भी विश्वास मत करो तथा एक समय मात्र का भी प्रमाद मत करो ।

यदि कोई पुरुष वीतराग वाणी के सारपूर्ण मर्म को नही समझता है तो वह उलझन मे पड जायगा कि उधर तो षड्द्रव्यो के सदर्भ मे काल पर विश्वास करने की बात कही है और दूसरे स्थान पर उससे विपरीत बात कह दी गई है । यह हकीकत मे उलझन नही है । इसको सापेक्ष दृष्टि से समझने की जरूरत है । सापेक्ष दृष्टि से जो खोज करेगा, वह उलझन को सुलझा लेगा कि भगवान् ने वास्तविक दृष्टि से विवेचन किया है । काल के लिए कह दिया कि वस्तुस्थिति के मूल के अनुसार काल अहितकारी नही है, लेकिन मनुष्य उसका दुरुपयोग करके उसको अहितकारी बना लेता है । काल हितकारी है, उस पर विश्वास करें लेकिन इस विचार के साथ कि उसको अपनी शुभता के साथ जोड कर ही हितकारी बनाया जा सकेगा । काल के साथ अपनी अशु-भता जोडते रहेगे तो उसका परिणाम अहितकारी तथा भयावह ही होगा । काल जब उस अशुभता का फल देने के लिए सामने आता है, तब भगवान् कहते हैं कि उस पर विश्वास मत करना ।

एक किसान अपने खेत मे अफीम बोता है । जमीन मे रस होता है और उस रस मे जैसा बीज किसान डालता है, वैसा फल जमीन देती है । अब किसान अफीम का बीज बोता है तो अफीम का पौधा ही निकलेगा और अफीम का फल ही मिलेगा, इसमे जमीन का क्या अपराध है ? किसान जैसा बोएगा, वैसा पाएगा । अफीम उसने बोई है तो कडुआ मुह करेगा । अगर वह गन्ना बोता तो मीठा मुंह करता । इसलिए जब किसान को अफीम का फल मिलता है और उसको उसकी कडुआहट का अहसास होता है, तब चतुर व्यक्ति उस को समझाता है—देख अब आगे से अफीम का विश्वास मत करना । किसी समय अफीम को मुह मे रखेगा तो प्राण चले जायेंगे । काल शुभ या अशुभ नही होता, अपनी करनी शुभ या अशुभ होती है, जो फल देते समय काल को शुभ या अशुभ बना देती है ।

आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रिया से परिवर्तन

कल्पना करें कि एक स्थान पर अफीम पड़ी हुई है और बच्चा उसको स्वाभाविक रूप से उठा लेता है बच्चे पर विश्वास इसलिए नही करते कि बच्चा भद्रिक—नादान होता है। वह अफीम को खा लेगा। वह अफीम बाहर है तब तक तो कुछ नही, लेकिन मुह और पेट मे चली गई तो प्राण चले जायेंगे। माँ—बाप सावधान होते हैं तो अफीम बच्चे के हाथ से छीनने की कोशिश करेंगे और उसको खाने नहीं देंगे। खाने की प्रक्रिया स्वाभाविक रूप से बन जाती है क्योंकि उसके शरीर की सरचना कुछ इस प्रकार की है कि जिसके कारण उसको खाना ही खाना सूझता है। बच्चा यह नहीं देखता कि क्या खाऊ और क्या नही खाऊ ? बच्चे के सामने जो भी चीज आती है, वह उसको खाने की चेष्टा करता है। जब तक उसकी अवस्था बचपन की है तब तक वह स्वभाव के अधीन होकर खाता है और अफीम खा लेता है तो अपने प्राणो को नष्ट कर देता है। तो यह अपराध बच्चे का है या अफीम का है ? आप बारीकी से सोचेंगे तो यही नतीजा निकालेंगे कि अपराध अफीम का नही है। यदि वह जबरदस्ती उठकर बच्चे के पेट मे चली जाती तो अफीम का अपराध होता है। यह अपराध बच्चा करता है जो अफीम को खा जाता है।

यह बात दूसरी है कि बच्चा अफीम को नादानी में खाता है। वह अफीम खा लेता है और अफीम के पेट में जाने पर बच्चा छटपटाने लगता है तो मां बाप कहेंगे कि क्या करें, अफीम ने बच्चे को कष्ट दे दिया। यही हालत आत्मा की है। आत्मा कोई पाप कार्य करती है तो वह या तो

दिन के काल चक्र में करेगी या रात्रि के काल चक्र में । और वह धर्म करना चाहेगी तो भी इन्हीं काल चक्रो में करेगी । काल वही है लेकिन उस काल में यदि बुरा कर्म किया तो बुरे काम का बुरा फल अवश्य मिलेगा । अब कह देते हैं कि काल ने फल दिया, लेकिन काल क्या देगा ? कर्म बंधने के बाद फल इस लिये देगा कि उसकी अवधि है । अवधि समाप्त होती है तो फल प्रकट हो जाता है । वह फल शरीर पर किसी कष्ट के रूप में प्रकट होगा तो उसका अनुभव आत्मा करेगी । यह उस फल की प्रक्रिया है ।

लेकिन इन कर्मों के फल की प्रक्रिया स्वत· नहीं होती है । चैतन्य कर्मों को ग्रहण करता है तब फल रूप प्रक्रिया प्रकट होनी है । चैतन्य भी अपने अच्छे या बुरे कार्य समय में ही करता है, अतः समय की स्थिति को समझने की आवश्यकता है । समय को अच्छा बनावें या बुरा बनावें यह आत्मा पर ही निर्भर है । अच्छा या बुरा बनाने का उपाय भी आत्मा के ही हाथ में है । यही मूल में आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रिया है कि आत्मा अपनी क्षमता को समझ जावे । क्योंकि जब आत्मा अपनी क्षमता को समझ लेती है तो वह अवस्था परिवंतन का भी पुरुषार्थ करती है । बुरे कर्मों का बध किया तो फल रूप कष्ट को भुगतना पडेगा । यही भुगतना आर्त–रौद्र ध्यान से होता है तो और कर्मों का बध होता हैं लेकिन यही भुगतना अगर ज्ञान के साथ हो तो वह पुराने कर्मों के क्षय कर लेती है और नये कर्मों का बध नहीं होता है। यह जो अवस्था का परिवर्तन है, वह आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रिया से ही होता है । इसी पुरुषार्थ के बल पर अशुभता की समाप्ति तथा शुभता की सरचना की जा सकती है ।

आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रिया

एक माता अपनी सन्तान को जन्म देती है । उसे वह नौ माह तक गर्भ मे रखती है तथा ममत्व भाव के साथ रखती है गर्भावस्था में आत्म विवेक के सारे माध्यम धीरे–२ सजग बनते जाते है । उस समय में माता को समय पहिचानना चाहिये । कैसे पहिचानना ? यह कि इस समय बालक की इन्द्रिया सजगता पकड रही हैं तो उस समय में उस को श्रेष्ठ संस्कार दिये जाय । यह तो हुआ समय को पहिचानना और समय को पकडना इस तरह होगा कि अपने जीवन की सम्पूर्ण वृतियों तथा प्रवृतियों द्वारा एव वाता-

करण के माध्यम से गर्भस्थ शिशु पर शुभ संस्कार डालने का कार्य प्रारंभ कर दिया जाय ।

समय को पहिचानने और पकडने में आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रियाए सक्रिय बननी चाहिये । जब माता पुरुषार्थ करेगी तभी जान पाएगी कि वह बालक को गर्भ में कैसे सस्कार किस प्रकार दे और फिर तदनुसार सस्कार देने में भी आत्म पुरुषार्थ को जुटाना पडेगा । ये प्रक्रियाए जब निरन्तर चलती रहेंगी तो माता समय को पकड लेगी याने कि गर्भस्थ बालक पर शुभ सस्कारो की छाप छोड सकेगी । क्या अभिमन्यु ने चक्रव्यूह मे घुसने का ज्ञान गर्भ में ही नहीं पाया था ? गर्भ में बालक के पूरे जीवन का निर्माण किया जा सकता है और जब माता पिताओ में इस प्रकार का विवेक होता है और वे उस विवेक के अनुसार आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रियाओ को सक्रिय बनाते हैं तो यह कहा जाय कि उन्होंने समय को पहिचान और पकड लिया है । क्यों कि इस तरह उन्होने काल को शुभ बना दिया । वे अपने आत्मपुरुषार्थ से जब मौका आया तो अशुभता से लडे भी लेकिन उन्होंने अशुभता को आने नहीं दी । यह आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रिया होती है । अशुभता नही आने दी तथा शुभता के सस्कार डाले तो फल रूप मे बालक के जीवन का शुभ निर्माण हुआ और माता पिता के जीवन में भी उस बालक के शुभ निर्माण के कारण शुभ फल ही प्रकट होगे ।

यदि यह समझिये कि माता पिता न तो समय को पहिचान पाये और न ही समय को पकड पाये तथा गर्भस्थ शिशु की सस्कार शुद्धि का उनको भान ही नहीं हुआ तो इस रूप में उन्होंने समय का दुरुपयोग किया । माता पिता उस समय में अच्छे सस्कार नहीं देते और बाद मे शिकायत करते हैं कि बच्चे उदंड हो गये हैं तो बताइये कि उनको उदड किसने बनाया ? माता पिता ने ही उनको उदड बनाया क्योंकि उन्होंने समय का दुरुपयोग किया । संस्कार निर्माण का जो समय उनको मिला था, उसको उन्होंने पहिचाना नहीं और खो दिया । खो दिया तो गया हुआ समय वापिस आता नहीं है । यदि समय को समझ लेते तो सन्तान के प्रति उनका सही कर्त्तव्य भी पूरा हो जाता । अपने भीतर शक्ति रहते हुए आत्म पुरुषार्थ की प्रक्रियाओं को सचालित नही करे और बेभान अवस्था में पडे रह कर अपने तथा आने वाली पीढी के जीवन को विकृत बनावें तो यह अपराध कम निकृष्ट नहीं है । समय को समय पर समझते नहीं और फिर समय को

अशुभ बताकर अपनी अज्ञानावस्था को छिपाने का जो प्रयास किया जाता है, वही मूल मे चारो ओर के पतन का कारण बनता है। इस जीवन में उस शक्ति का यथासमय विकास किया जाना चाहिये जो समय को पहिचानने तथा पकडने का विवेक जगा सके एव आत्म पुरुषार्थ की सद् प्रक्रियाओं को सक्रिया बना सके।

समय को नहीं समझते तो आत्म पुरुषार्थ निष्क्रिय रह जाता है

किसान समय पर खेती करता है तो उसे सफलता मिलती है यानि कि बरसात बरसने के साथ ही वह अपने पुरुषार्थ को खेती में लगाता है तब सारा काम बनता हैं। यदि कोई समय को ही नहीं समझे तो उसका आत्म पुरुषार्थ या तो निष्क्रिय रह जाता है या निष्फल हो जाता है। बरसात बरसती रहे और किसान खेती मे पुरुषार्थ करे ही नही तो उसका पुरुषार्थ निष्क्रिय रह जाता है तथा भर गर्मी मे खेती मे बीज बोने का वह पुरुषार्थ लगादे तो समय को नही पहिचान पाने के कारण उसका पुरुषार्थ निष्फल चला जायगा। यही आत्मा के साथ और इसी जीवन के साथ भी लागू होता है।

माता यदि अपने गर्भ के समय को नही समझती है तो बालक को शुभ संस्कार दे सकने के अपने पुरुषार्थ को भी नही जगा पाती है। इसका बुरा परिणाम यह होता है कि गर्भावस्था मे ही बालक कुसंस्कारों का शिकार बन जाता है और उस बालक के जन्म लेने तथा बडे होने पर वे कुसस्कार जब फूटते और फलते हैं तो वे सस्कार सिर्फ बालक को ही नही, माता पिता को भी सकट मे डाल देते हैं।

जोधपुर का एक पहले का किस्सा है। उस वक्त महाराज विजयसिंह जी राज्य करते थे। उसके राज्य में प्रजा को कई सुविधाएं प्राप्त होने से वह सुखी थी। उन्होने समय को पहिचान कर अपने राज्य में सर्वत्र सुव्यवस्था स्थापित की। समय को सार्थक कर पाना शुभ भावना से ही सभव होता है और वैसा प्रयास ही आत्मा के लिये हितावह होता है। समय का दुरुपयोग तब होता है जब कार्य विधि में स्वार्थ का समावेश हो जाता है। उस समय ऐसा प्रसग बना कि एक विधवा बहिन ने सारी सम्पत्ति अपने पुत्र पर लगादी

ग्रौर जब वह वृद्ध हो गई तो उसका पुत्र कुसन्तान के रूप में ढलने ल
उसको देख-देख कर वह ग्रार्त रौद्र घ्यान करती ग्रौर नये-नये कर्म बांध
वह पुत्र को कुछ कहती तो पुत्र उद्दडता से जवाब देता । ग्राखिर पडोसि
सलाह से वह महाराजा के पास गई ग्रौर उसने ग्रपना दुख उनको सुना
महाराजा ने ग्रनुचर भेजकर पुत्र को भी बुला लिया ग्रौर उससे वृद्धा
की सेवा के बारे में पूछा । वहा भी वह ग्रटशट बोलने लगा कि नौ
गर्भ में रखा है तो नौ टक्के भाडे के ले ले । महाराजा ने उसको शिक्ष
की नीयत से एक गर्भस्थ बालक के वजनजितनी मिट्टी मगाई ग्रौर उसको
करा कर उसके पेट पर पट्टे से कस कर बधवादी । ग्रब ज्यो-ज्यो
सूखने लगी तो उसकी नसें खिचने लगी । ग्रब वह घबराने लगा । मह
ने कहा तुम्हारी मां ने तुमको नौ महीने पेट में रखा ग्रौर इस मिट्
तुम्हारे पेट के ऊपर बांधे हुए तो नौ घटे भी नही हुए हैं । कम से क
घटे पट्टा बधा रहेगा तो तुमको भाडा मालूम हो जायगा । ग्रौर उस
क्षमा मागी । लेकिन ऐसा क्यो हुग्रा ? क्यो कि माता ने उस समय क
समझा ग्रौर ग्रपने ग्रात्म पुरुषार्थ को निष्क्रिय बनाये रखा । यह उस
ग्रशुभ फल था । ग्रब उस काल को ग्रशुभ बताना कहा तक उचित है

ग्रात्म पुरुषार्थ को सक्रिय

ग्रात्म पुरुषार्थ को सक्रिय नही रखते हैं—उस की प्रक्रिया
को सम्यक् रूप से सचालित नही करते हैं तो समय ग्रशुद्ध ग्रौर ग्रशु
जाता है । इसीलिये भगवान् ने कहा है—ए भव्यो, यह मुहुर्त घोर ब
है क्यो कि तुमने मुहुर्त (समय) को बुरा बना दिया । इस कारण वह
बन गया ग्रशुभ हो गया ग्रौर तुम्हारे विपरीत बन कर तुम्हारे लिये
फल वाला हो गया है । तुम्हारा शरीर ग्रबल है, उस पर यह समय
करता है तो तुम ग्रपने जीवन को ग्रौर ग्रधिक ग्रशुभ बना लेते हो
ग्रात्म पुरुषार्थ को सक्रिय रखो तथा समय को ग्रशुभ तथा ग्रशुद्ध मत ब

मनुष्य यह सोचता है कि ग्रात्म विकास के काम को ग्राज
कल कर लू गा । वह कल पर विश्वास करता है तो उस सदर्भ में
के काल पर विश्वास नहीं करने का निर्देश दिया गया है । ग्रच्छा काम
ग्रौर ग्रभी करें तथा ग्रात्म पुरुषार्थ को सजग बनाये रखे ।

[दि. ६-६-७

अप्रमत्त आत्मा

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए..................

प्रभु की प्रार्थना जीवन के लिये एक पाथेय है । यह एक खुराक भी है । यह आत्मा अनादिकाल से जिस क्षुधा को वहन करती हुई आ रही है, जिस भूख से छटपटा रही है तथा जिस भूख के स्वरूप को वह पूरी तरह नहीं समझ पा रही है, वह उसकी पूर्ति के लिये अनेक तरह के यत्न कर रही है ।

कभी आत्मा सोची है कि अमुक पदार्थ को मे ग्रहण करलू जिससे मेरी तृप्ति हो जायगी जब तक वह पदार्थ प्राप्त नही होता है, तब तक तो उसकी आशा बनी रहती है लेकिन जैसे ही उस पदार्थ को पाया नही कि आशा निराशा मे परिणित हो जाती है । वह सोचती है कि उस पदार्थ से तृप्ति नही हुई—उससे उनकी अनादिकालीन भूख शान्त नही हुई इसलिये उसके लिये किन्ही अन्य पदार्थों की आवश्यकता है । ऐसा चिन्तन प्रमत्त आत्मा का लक्षण होता है ।

जो आत्मा अपना प्रमाद छोडने को तत्पर बनती है, वह अप्रमत्त अवस्था के स्वरूप को भी समझती है । आत्मा की अप्रमत्त अवस्था उसे सतत जगरुक रखती है । वह आत्मा जागते हुए भी जागती है तथा सोते हुए भी जागती है । उस का जागरण भी स्थायी बन जाता है । वह अपने विकास पथ पर सतत जागृत-सतत प्रगतिशील हो जाती ।

चाह के पीछे बेभान आत्माए

सांसारिक वातावरण मे रग जाने के कारण ये ससारी आत्माए अपनी चाहो से पीछे बेभान बन जाती हैं । एक चाह के बाद दूसरी चाह और इस तरह चाहो की अन्तहीन पक्ति कभी पार होती ही नही हैं और यह आत्मा उसके पीछे अपनी जीवनी शक्तियो को निछावर करती हुई चली आ रही है। वह अपनी तृत्ति के पीछे भटकती है । वह कभी बढिया वस्त्रो की तरफ मुडती है तो कभी मिष्टान भोजन को ग्रहण करके अपनी तृप्ति करना चाहती है । कभी शृगार सजा कर तो कभी यशकीर्ति के हार पहिन कर वह तृप्ति का आनन्द लेने की चेष्टा करती है । कभी वह नवीन खोज की दिशा मे आगे बढ़ती है और नवीन-नवीन पदार्थों का परीक्षण करने मे लग जाती है । ये सारे प्रयत्न इस चेतन की उस अन्तरात्मा की भूख के परिचायक हैं । इसको इस भूख से तृप्ति अवश्य चाहिये, लेकिन जो चाहिये, वह वास्तव मे उसको मिल नही पा रहा है ।

प्रभु ऋषभदेव जब अपने राज्य तथा विशाल वैभव का परित्याग करके मुनिव्रत को अगीकार करते हुए चले तो वे जनता के बीच मे होकर घरो मे पहुचने लगे । उन्होने युगलिया जनता को कर्म का मार्ग दिखला दिया था और अब धर्म का मार्ग दिखला रहे थे । प्रभु को भी चाह थी लेकिन उनकी चाह साधारण व्यक्तियो की चाहो से सर्वथा भिन्न थी । साधारण व्यक्ति अपनी चाह के पीछे बेभान बन जाता है—अपने होश को खो देता है, वहा ऋषभदेव सम्यग ज्ञान एव पूर्ण जागृति के साथ चल रहे थे । चाह की पूर्ति के लिये शरीर को भी वे अपनी साधना का अग मान रहे थे । उनकी उस आध्यात्मिक वृति को जनमानस समझ नहीं रहा था । लोगों की तब तक जैसी समझ पनपी थी, उसी के अनुसार वे सोच रहे थे ।

सारे जगत् का उद्धार करने वाले तथा सब को सुखी बनानेवाले वे दिव्य महापुरुष दीक्षा लेकर सबको धर्म का मार्ग दर्शा रहे थे । पैरो मे जूतियां नहीं और शरीर पर कोई वस्त्र नही—सिर पर मुकुट भी नहीं । वे अपने महाराज को बडे आश्चर्य से देखते और अपनी-अपनी समझ से उनकी सेवा करना चाहते वे तो राजकीय वैभव छोड कर आत्मार्थी बन गये थे सो साधना के कठोर मार्ग पर चल रहे थे । लेकिन जो नहीं समझता था, वह सोचता कि ये पैदल

इस कारण चल रहे है कि इनको वाहन चाहिये और वह वाहन ले आता और उनको वाहन पर बैठने का आग्रह करता कोई वस्त्राभूषण लाता है तो कोई और कुछ। जब ऋषभदेव इन पदार्थों को छोड कर चले जाते तब लोग सोचते कि इन्हे इन पदार्थों की चाह नही है। ये मुनि बन गये हैं और इनकी अब कोई दूसरी चाह है। तब वे मुनि जीवन और उसकी कठिन साधना को समझने लगे और कर्म के बाद धर्म की जानकारी प्रभु के जीवन से लेने लगे। रंग–बिरगी चाहो के बाद उन्हे शुद्ध श्वेत चाह का भी ज्ञान होने लगा। उनकी भी चाह होने लगी कि वे भगवान् ऋषभदेव के आध्यात्मिक मार्ग को निर्ग्रंथ मार्ग को समझें तथा उसका अनुसरण करने की तरफ आगे बढें।

निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति का
प्रभु के हाथों शुभारंभ

प्रभु ऋषभदेव के हाथो जिस त्यागमय सस्कृति के नाम से विख्यात हुई। निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति का मार्ग कठिन है। वह स्वयं के आत्म बल पर निर्भर रहती है। उन्होने अबोध लोगो को समझाया—हाथी पर बैठने से निर्ग्रंथ धर्म साधना नहीं होती है, उससे एक ओर हाथी का उत्पीडन होता है, तो दूसरी ओर से आत्मा प्रमाद के वशीभूत होती है। जो हाथी, घोडा, रथ या अन्य प्रकार के वाहन उस समय मे प्रचलित थे, उनका प्रचलन भी तो उन्होने ही शुरु किया था। आज कोई यह कह सकता है कि हाथी और घोडे का उत्पीडन होता है तथा उस समय कार, रेल या हवाई जहाज का अविष्कार नही हुआ था वरना, आज इन वाहनो का प्रयोग करने मे साधु को क्या हर्ज है वाहन वे भी थे और वाहन ये भी हैं। वाहन का प्रयोग नही करने का अर्थ आत्मा को अप्रमत्त बनाना है।

वैसे हिंसा की दृष्टि से ही पहले के वाहनो के साथ आधुनिक वाहनों की तुलना करें तो आपको स्पष्ट ज्ञात होगा कि कार, रेल, हवाई जहाज आदि वाहनो से भारी हिंसा होती है और इनसे दुर्घटनाग्रस्त हो जाने की दिशा मे तो हिंसा का तांडव दिखाई देता है। इस तरह आपके ये आधुनिक वाहन अधिक हिंसाकारी, यहा आरभकारी, और जीवन को अधिक परतन्त्र बनाने वाले हैं। इन वाहनो के प्रयोग मे हिंसा भी अधिक है तो प्रमाद भी अधिक है और ये

दोनों आत्म स्वरूप को मलिन बनाते हैं।

ऋषभदेव को जन्म से तीन ज्ञान थे—मति ज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान तथा दीक्षा लेने के बाद मनःपर्यय ज्ञान भी उन्हें प्राप्त हो गया। इन चारो ज्ञानों की निर्मलता तथा भविष्य की दीर्घ दृष्टि के साथ उन्होने साधु धर्म का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने इसी दृष्टि से वाहन ग्रहण नही किया। उनको वाहन की भूख न थी, उनकी भूख कुछ दूसरी ही थी। उनके समान साधु धर्म अंगीकार करके चलने वाले आज के निर्ग्रंथो को किसकी भूख है? अगर वे वाहन की इच्छा रखें, वाहन जुटा कर चलें और कार, वायुमान आदि का प्रयोग करें तो क्या उन्हें निर्ग्रंथ कहेंगे? क्या वे वस्तुतः आध्यात्मिक जीवन के साधक रहेंगे? क्या वे अपने साधना मार्ग को समझ रहे हैं? भद्रिक जनता कुछ नही समझ पाती।

भगवान् ऋषभदेव के युग में जिस प्रकार की भद्रिक जतना थी, उसमे कुछ और ही भद्रिकता थी और आज की जनता में कुछ और की भद्रिकता है। उस समय के लोग ऋजुप्रज्ञ, सरल और सीधे-सीधे थे और आज के लोग वक्र और टेढे हैं। आज की जनता सोचती है कि सबको प्रचार की भूख सता रही है। भगवान् महावीर और अन्य तीर्थंकरो की वाणी का प्रचार करने के लिए साधु लोग वाहन पर बैठें, हवाई जहाज में उडें आरंभकारी यन्त्रों को काम में लें और उनके सहारे वे धर्म का प्रचार प्रसार करें— इस प्रकार की भूख को सही बतलाने की चेष्टा आज की जा रही है।

निर्ग्रंथ श्रमण संस्कृति के स्वरूप को विकृत बना कर कोई उसका प्रचार करना चाहे तो क्या वह श्रद्धावान प्रचारक कहलायगा? यह संस्कृति पूर्णतः त्याग पर आधारित है और त्याग का आश्रय लेकर ही आचार के अनुसार इसका प्रचार किया जाय तो वही प्रभावशाली हो सकता है। लेकिन प्रश्न तो यह है कि क्या इस प्रकार से प्रचार के नाम पर अपनाई जाने वाली ऐसी प्रवृत्तियो के पीछे प्रचार की ही भूख है?

क्या यह धर्म के नाम पर स्वार्थ की भूख नहीं है?

मैं सोचता हू कि यह वस्तुतः धर्म प्रचार की भूख नहीं है। शायद

इस धर्म प्रचार को एक भूलभूलैया बना दिया गया है कि जिसकी आड़ में अपने स्वार्थ की भूख दूर करने की चेप्टाए की जा सकें। यह तो स्वयं धर्म के लिये एक सक्रामक रोग बन गया है। ऐसे प्रचारक या ऐसे प्रचार को प्रोत्साहन देने वाले लोग न तो धर्म के शुद्ध स्वरूप को समझते हैं और न ही निग्रंथ श्रमण सस्कृति को समझते हैं। वे प्राय बेहोशी मे चल रहे हैं। मूर्छा की अवस्था मे इन्सान कुछ भी करता है, उसको उसका भान नहीं होता है और इस प्रकार वेभान चलने वाले भले ही वे गृहस्थ हों या साधु की पोषाक पहिन कर साधु कहलाते हो, लेकिन उनकी सारी प्रक्रिया निग्रंथता के अनुकूल नही हैं। गृहस्थ भी कुछ ऐसे मुग्ध हो जाते हैं कि उनकी उस निग्रंथवृत्ति का अभाव उनको दीखता नही उन को खलता नही। बस महाराज की बडी कृपा है। उन महाराज को मस्तिष्क की कला से सुन लिया और सब कुछ हो गया। फिर महाराज के बिछौने गृहस्थ करदें, सारा काम वही हो जाय, रसोई बन जाय, वे महाराज जीमलें फिर भी वे महाराज बने रहे—यह इस युग की देन है। यह भगवान् महावीर द्वारा निर्देशित साधु आचार की देन नहीं है।

यह विचित्र स्थिति आज के जन मानस मे चल रही है और सबकी भावना मे यह रोग व्याप्त हो रहा है कि दूसरो को सुधारें तथा धर्म का प्रचार प्रसार करें लेकिन वे यह भूल जाते हैं कि स्वय को सुधारे बिना दूसरो को क्या सुधारेंगे। यह भी नही जानते कि धर्म को वास्तविक स्वरूप क्या है? वे धर्म के नाम पर या धर्म की आड मे या धर्म के प्रचार प्रसार के बहाने अपने स्वार्थ की भूख को मिटाना चाहते हैं और स्वय गुलछर्रे उडाना चाहते हैं। वे इस रूप मे अपनी पांचो इन्द्रियो के विषयों की तृप्ति करना चाहते हैं तथा स्वय के आन्तरिक गन्दे जीवन को प्रकारान्तर से भोगना चाहते हैं। सही दृष्टिकोण उनके सामने नही है तथा दुनिया भी इस तरह गुमराह होकर चल रही है। यदि कई दृष्टियो से देखा जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि दुनिया को भी वास्तविक धर्म की भूख कम है और अपने स्वार्थों की भूख ज्यादा है। दुनिया भी अधिकतर स्वार्थ के पीछे चलती है। उसमे कभी—कभी अपने पापों को छिपाने की भी भूख होती है। इस जीवन मे बहुतेरे पाप एकत्रित हो जाते हैं और स्वय को भान होने लगता है कि मेरे इतने पाप हो गये-मैं इतना पापी बन गया जिन्हे मैं तो जानता ही हू, लेकिन पडोसी जान लेंगे समाज वाले जान लेंगे तथा बाहर के व्यक्ति जान लेंगे तो क्या कहेगे कि समाज के अगुआ लोगो ने इतने पाप कर डाले? इसलिये उन पापो पर पर्दा डाल दिया

जाय ताकि दुनिया उन्हें देख नहीं पाए—मैं भले ही अन्दर का अन्दर अनुभव करता रहूं। पर्दा डालने का वह कपड़ा कौनसा है? आधुनिक परिवेश में यह कपड़ा धर्म प्रचार का बन गया है। वे तथा कथित प्रचारक कहते हैं कि धर्म का प्रचार नहीं करेंगे तो आगे कैसे बढ़ेंगे? लोग भी कह देते हैं कि धर्म का प्रचार इस देश मे ही क्या-विदेशो मे भी करना चाहिये। सब साधन जुटा लिये जाते हैं और महाराज अपने साधु आचार को ताक मे रखकर धर्म प्रचार करने के लिये निकल जाते हैं। इस तरह पर्दे तैयार हो जाते हैं। वे अपने निजी जीवन को नहीं देखने देने की स्थिति तैयार कर लेते हैं। ये सारे पर्दे हैं, जिनको दुनिया नहीं देख रही है।

श्रमण संस्कृति का स्वरूप अत्यन्त भव्य है

मैं ऋषभदेव प्रभु की बात कह रहा था। उन्होंने श्रमण संस्कृति का भव्य स्वरूप प्रस्तुत किया था जो मर्यादामय, त्यागमय एवं धर्ममय था। उस समय के वाहन आज के वाहनों की तुलना में हिंसा की दृष्टि से हल्के थे, फिर भी उन्होंने उन वाहनों का भी त्याग कर दिया। तब जनता को सहज ज्ञान हो गया कि जो साधु बनता है, वह हाथी, घोड़ा, रथ, पालकी आदि किसी वाहन को काम में नहीं लेता है। साधु अपने पैरों पर ही चलता है, कितनी ही सर्दी या गर्मी हो, वह अपने पैरों पर किसी तरह का आवरण भी नहीं चढ़ाता है।

आगे चलते-चलते भगवान् ने श्रेयांस कुमार के हाथ से प्रासुक गन्ने का रस ग्रहण किया तब लोगों को जानकारी हुई कि सन्तों को शरीर के निर्वहन के लिये भोजन की भी आवश्यकता होती है लेकिन वे दोष रहित आहार ही ग्रहण कर सकते हैं। यद्यपि उनको भूख की तिलमिलाहट नहीं थी किन्तु उन्हें साधु आचार की कई तरह की मर्यादाओं की प्रतिष्ठा करनी थी। प्रत्येक प्रकार से उन्होंने श्रमण संस्कृति के भव्य स्वरूप की प्रतिष्ठा की और उसका वह भव्य स्वरूप आगे के तीर्थंकरों से पुष्ट होता हुआ भगवान् महावीर के शासन में आज सबके सामने उपस्थित है। प्रश्न है उस भव्य स्वरूप की रक्षा करने का। क्योंकि अगर किसी भव्य स्वरूप को कोई बदसूरत कर [illegible] बनाता है तथा कोई उसको विकृत किये जाते हुए मजा लेकर देखता रहे

है तो दोनों समान रूप से अपराधी कहे जायेंगे ।

प्रतिष्ठित श्रेष्ठ संस्कृति की रक्षा का दायित्व महान् होता है। और यह श्रमण संस्कृति तो अत्यन्त ही भव्य है । क्या इसको विकृत बनाने के प्रयासों को निश्चेष्ट बनकर सहन किया जाता रहेगा ? और ध्यान रखिये कि क्या उसकी रक्षा अविवेक से की जा सकेगी ? विवेक कैसा और अविवेक कैसा इसका ज्ञान इस रूपक से लीजिये । प्राचीन काल में एक गुरुकुल में अध्ययन-अध्यापन होता था । एक बार दो अध्यापक भोजन की तैयारी कर रहे थे तथा दो छात्र भी बैठे हुए थे । दो कटोरियों में अध्यापकों ने दही मंगाया और उन कटोरियों के सम्बन्ध में दोनों छात्रों को यह निर्देश देकर स्नान करने के लिये चले गये कि "काकेभ्यो दधि रक्षताम्" अर्थात् दोनों छात्र दोनों दही की कटोरियों की कौओं से रक्षा करें ।

दोनों छात्रों ने इस निर्देश का अलग-अलग अर्थ पकड़ा । पहले ने निर्देश के पहले अंश पर जोर दिया कि दही की कौओं से रक्षा की जाय । दिमाग में काकेभ्यः शब्द घूमा । उसने कौओं को कटोरी में चोंच भी नहीं डालने दी, लेकिन बाहर से बिल्ली आकर दही चाटने लगी तो उसने उसको नहीं रोका, कारण गुरुजी ने कौओं से रक्षा करने का निर्देश दिया था । दूसरे छात्र ने उसी निर्देश के पिछले अंश को प्रमुख माना कि 'दधि रक्षताम्' याने कि दही की रक्षा की जाय चाहे कौआ आवे, बिल्ली आवे या और कोई आवे, उससे उस दही की रक्षा की जानी चाहिये । उसने दही की रक्षा करली । दोनों अध्यापक वापिस लौटे तो उन्हें मालूम हो गया कि किस छात्र में रक्षा करने का कैसा विवेक था ? रक्षा तो दोनों करना चाहते थे लेकिन एक के पास अविवेक था तो वह रक्षा नहीं कर सका तथा दूसरे ने विवेक रखा तो उसने दही की रक्षा करली ।

क्या सभी श्रमण संस्कृति के अनुयायियों को इस अमूल्य सं[illegible] की रक्षा करनी है ? अब रक्षा कैसे करनी—विवेक से या अविवेक की भावना होगी, फिर भी यदि अविवेक रखा तो संस्कृति की रक्षा रक्षा की भावना भी रखें तथा विवेक भी रखें तभी इस संस[illegible] स्वरूप की समुचित रूप से रक्षा हो सकेगी ।

अपने जीवन मे से प्रमाद को छोडेंगे तथा अप्रमत्त अवस्था की तरफ गति करेंगे तभी भव्य श्रमण सस्कृति की रक्षा भी हो सकेगी तथा आत्मा का विकास भी साध सकेंगे। अप्रमत्त भाव प्रधान रूप से विकसित बन जाना चाहिये। सस्कृति की रक्षा का अभिप्राय सामान्य नही है, अति गूढ है। भगवान् ऋषभदेव तथा अन्य तीर्थंकरो ने क्या कहा—साधु बने हो तो तुम्हारा पहला महाव्रत अहिंसा का है, उसकी पूर्णत. रक्षा करना। प्रथम महाव्रत मे छोटे से छोटे और बडे से बडे प्राणी की रक्षा का प्रसग है। चाहे वह पृथ्वी पानी, अग्नि वायु, वनस्पति काया का जीव हो अथवा चलता फिरता एकेन्द्रिय से लगाकर पचेन्द्रिय तक का जीव हो, उसकी किसी भी रूप मे मन से, वचन से और काय से साधु हिंसा करे नही करावे नही तथा करने वाले का अनुमोदन नहीं करे। यह उपदेश है भगवान् का किन्तु इस पर आचरण कैसे किया जा रहा है ?

कई लोग यह तर्क देते हैं कि पहले के समय मे विद्युत् का तथा भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक सुविधाओ का आविष्कार नही हुआ था इसलिये भगवान् के कथन मे उनका निषेध नही है। आज के जमाने को देखते हुए साधु माईक पर बोले या वाहनो का प्रयोग करले तो वह उचित होगा। लेकिन यह तर्क ही उचित नहीं है। तीर्थंकर सर्वज्ञ थे, वे विद्युत् के ज्ञाता थे। फिर भी उन्होने साधु आचार की जो मर्यादाए प्रतिष्ठत की, उनका मर्म आत्म विकास के साथ जुडा हुआ है कि आत्मा की अप्रमत्त अवस्था का विकास हो। आज के जो तर्क हैं, वे वक्रजड तर्क हैं जिनमे मर्म को समझने की जिज्ञासा कम तथा सदाचार को काटने की दुर्बुद्धि अधिक होती है। यह पचम काल की स्थिति है।

अप्रमत्त भाव से ही आत्मा का विकास होगा और सुसस्कृति के प्रकाश मे होगा तथा अप्रमत्त भाव से ही उस सुसस्कृति की भी रक्षा की जा सकेगी। सुसस्कृति की रक्षा भी स्वस्थ आत्मा ही कर सकती है—पर-तत्वो मे भटकने वाली आत्मा नहीं।

आत्मा की वास्तविक भूख क्या

प्रार्थना की पक्तियों मे आत्मा की तृप्ति के लिये सकेत है—उसकी

है तो दोनों समान रूप से अपराधी कहे जायेंगे ।

प्रतिष्ठित श्रेष्ठ संस्कृति की रक्षा का दायित्व महान् होता है। और यह श्रमण सस्कृति तो अत्यन्त ही भव्य है । क्या इसको विकृत बनाने के प्रयासो को निश्चेष्ट बनकर सहन किया जाता रहेगा ? और ध्यान रखिये कि क्या उसकी रक्षा अविवेक से की जा सकेगी ? विवेक कैसा और अविवेक कैसा इसका ज्ञान इस रूपक से लीजिये । प्राचीन काल मे एक गुरुकुल मे अध्ययन-अध्यापन होता था । एक बार दो अध्यापक भोजन की तैयारी कर रहे थे तथा दो छात्र भी बैठे हुए थे । दो कटोरियो मे अध्यापकों ने दही मगाया और उन कटोरियो के सम्बन्ध मे दोनो छात्रो को यह निर्देश देकर स्नान करने के लिये चले गये कि "काकेभ्यो दधि रक्षताम्" अर्थात् दोनो छात्र दोनो दही की कटोरियों की कौओ से रक्षा करें ।

दोनो छात्रों ने इस निर्देश का अलग-अलग अर्थ पकडा । पहले ने निर्देश के पहले अंश पर जोर दिया कि दही की कौओं से रक्षा की जाय । दिमाग में काकेभ्यः शब्द घूमा । उसने कौओं को कटोरी मे चोंच भी नहीं डालने दी, लेकिन बाहर से बिल्ली आकर दही चाटने लगी तो उसने उसको नही रोका, कारण गुरुजी ने कौओं से रक्षा करने का निर्देश दिया था । दूसरे छात्र ने उसी निर्देश के पिछले अंश को प्रमुख माना कि 'दधि रक्षताम्' याने कि दही की रक्षा की जाय चाहे कौआ आवे, बिल्ली आवे या और कोई आवे, उससे उस दही की रक्षा की जानी चाहिये । उसने दही की रक्षा करली । दोनों अध्यापक वापिस लौटे तो उन्हें मालूम हो गया कि किस छात्र मे रक्षा करने का कैसा विवेक था ? रक्षा तो दोनों करना चाहते थे लेकिन एक के पास अविवेक था तो वह रक्षा नही कर सका तथा दूसरे ने विवेक रखा तो उसने दही की रक्षा करली ।

क्या सभी श्रमण सस्कृति के अनुयायियो को इस अमूल्य सस्कृति की की रक्षा करनी है ? अब रक्षा कैसे करनी—विवेक से या अविवेक से ? रक्षा की भावना होगी, फिर भी यदि अविवेक रखा तो सस्कृति की रक्षा नहीं होगी। रक्षा की भावना भी रखें तथा विवेक भी रखें तभी इस सस्कृति के भव्य स्वरूप की समुचित रूप से रक्षा हो सकेगी ।

संस्कृति की रक्षा अप्रमत्त भाव से

अपने जीवन मे से प्रमाद को छोडेंगे तथा अप्रमत्त अवस्था की तरफ गति करेंगे तभी भव्य श्रमण सस्कृति की रक्षा भी हो सकेगी तथा आत्मा का विकास भी साध सकेंगे। अप्रमत्त भाव प्रधान रूप से विकसित बन जाना चाहिये। सस्कृति की रक्षा का अभिप्राय सामान्य नही है, अति गूढ है। भगवान् ऋषभदेव तथा अन्य तीर्थंकरो ने क्या कहा—साधु बने हो तो तुम्हारा पहला महाव्रत अहिंसा का है, उसकी पूर्णत. रक्षा करना। प्रथम महाव्रत मे छोटे से छोटे और बडे से बडे प्राणी की रक्षा का प्रसग है। चाहे वह पृथ्वी पानी, अग्नि वायु, वनस्पति काया का जीव हो अथवा चलता फिरता एकेन्द्रिय से लगाकर पचेन्द्रिय तक का जीव हो, उसकी किसी भी रूप में मन से, वचन से और काय से साधु हिंसा करे नही करावे नही तथा करने वाले का अनुमोदन नही करे। यह उपदेश है भगवान् का किन्तु इस पर आचरण कैसे किया जा रहा है ?

कई लोग यह तर्क देते हैं कि पहले के समय मे विद्युत् का तथा भिन्न-भिन्न वैज्ञानिक सुविधाओ का आविष्कार नही हुआ था इसलिये भगवान् के कथन मे उनका निषेध नही है। आज के जमाने को देखते हुए साधु माईक पर बोले या वाहनो का प्रयोग करले तो वह उचित होगा। लेकिन यह तर्क ही उचित नहीं है। तीर्थंकर सर्वज्ञ थे, वे विद्युत् के ज्ञाता थे। फिर भी उन्होंने साधु आचार की जो मर्यादाए प्रतिष्ठत की, उनका मर्म आत्म विकास के साथ जुडा हुआ है कि आत्मा की अप्रमत्त अवस्था का विकास हो। आज के जो तर्क हैं, वे वक्रजड तर्क हैं जिनमे मर्म को समझने की जिज्ञासा कम तथा सदाचार को काटने की दुर्बुद्धि अधिक होती है। यह पचम काल की स्थिति है।

अप्रमत्त भाव से ही आत्मा का विकास होगा और सुसस्कृति के प्रकाश में होगा तथा अप्रमत्त भाव से ही उस सुसस्कृति की भी रक्षा की जा सकेगी। सुसस्कृति की रक्षा भी स्वस्थ आत्मा ही कर सकती है—पर-तत्वो में भटकने वाली आत्मा नहीं।

आत्मा की वास्तविक भूख क्या

प्रार्थना की पक्तियों में आत्मा की तृप्ति के लिये सकेत है—उसकी

वास्तविक भूख का उल्लेख है। आत्मा को इन सांसारिक एव भौतिक पदार्थों से तृप्त होने का यदि प्रसग होता तो आत्मा कभी की तृप्त हो जाती—उसको कभी का सन्तोष मिल जाता। वह स्थायी शान्ति मे भी रमण करने लग जाती। लेकिन ऐसा नहीं हुआ है। आज जितनी ससारी आत्माए हैं, वे कर्म बधन से युक्त हैं—छद्मस्थ अवस्था मे चल रही है। जिनको सही भान नहीं हुआ है, उन आत्माओ से पूछिये क्या आपकी तृप्ति हुई आपको शान्ति मिली? किससे पूछें? आप अपने से पूछिये और अपना अनुभव बताइये।

आप वैभव के साथ अपने जीवन को लेकर चल रहे हैं। कइयों के पास धन, वाहन तथा सुख साधन पर्याप्त मात्रा मे हैं। इन सबको भोगते हुए क्या आपको सच्चा सुख मिला? आप अपने अन्त करण को टटोल कर बतावें। आप यही कह रहे हैं कि आपको सुख और सन्तोष नही है। और तो दूर रहा परिवार के सदस्यो से भी सन्तोष नही है—माता से भी सन्तोष नहीं है, बल्कि अपनी धर्मपत्नी से भी सन्तोष नही है। भूख वैसी ही चल रही है। यह क्यों? इसका कारण यह है कि आत्मा की वास्तविक खुराक कुछ और है तथा उसको खुरक कुछ और ही दी जा रही है। इसलिये उसकी भूख बनी हुई है आत्मा यदि अपनी वास्तविक भूख को नही समझेगी तो जैसे अनादि काल से भूख बनी हुई है, वैसे आगे भी भूख बनी रहेगी। वह इन बाहरी साधनों से तृप्त होने वाली नही है।

भूख से तृप्ति को प्राप्त करने के लिये आत्मा को अपने अन्तःकरण मे देखना है, विवेक का दीपक जलाना है और महावीर प्रभु की वाणी को सतत जागृति के साथ ध्यान व आचरण मे रखना है। क्या सुना रहा हूं महावीर की वाणी? गाथा ध्यान मे है न?

सुत्ते सुयावि पडिबुद्धजीवी, नोविससे पडिअ आसुपन्ने।
घोका मुहुत्ता अबले शरीरं, भारंड पक्खी व चरेऽपमत्तो।

गाथा छोटी लेकिन अर्थ महान् है। आप भावो को पकडें तथा अपने अनुभव को देखें कि आप अपने जीवन मे प्रतिक्षण क्या कुछ कर रहे हैं? आत्मा सतत जागृत हैं अथवा नीद में सोई हुई हैं? वह जागृत है तो उसकी जागृति कैसे चल रही है—प्रमाद के साथ अथवा अप्रमत्त भाव से? प्रमाद है तो सतत जागृति नही रह सकती है तथा प्रमाद का परित्याग सतत जागृति के

बिना सभव नही । आत्मा प्रतिक्षण जागृत रहती है, तभी वह अपनी अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त कर सकती है । आत्मा की वास्तविक भूख है कि वह अपने स्वरूप का उच्चतम विकास करे—परमात्म स्वरूप का वरण करे और उसकी यह भूख सतत जागृति तथा अप्रमत्त अवस्था से मिट सकेगी, क्योकि प्रमाद नही होगा तो उसका उस दिशा मे किया जाने वाला प्रत्येक पुरुषार्थ फलीभूत बनेगा ।

अप्रमत्त आत्मा

सतत जागृत रहती है

भगवान ने कहा है—'सुत्ते सुमावि पडिबुद्धजीवीन' अर्थात् प्रतिबुद्ध-जीवी सोते हुए भी जागता है तथा निरन्तर अप्रमत्त भाव मे विचरण करता है । सोचें कि एक व्यक्ति सोया हुआ है ऊपर से देखकर सब कह रहे हैं कि सोया हुआ है । पाचो इन्द्रियो की क्रियाए बन्द हैं । आखों की पलकें गिर नहीं रही हैं । नाक श्वास लेता है , गध नही लेता । कान मे शब्द जाते हैं, मगर कान उन्हे पकडता नही है । हवा स्पर्श कर रही है लेकिन स्पर्श ज्ञान सुप्त है । मन का सचरण भी व्यक्त रूप से नहीं हो रहा है । उसे देखकर सब यही कह रहे हैं कि वह सोया हुआ है । जगे हुए भी यही कह रहे हैं कि वह सोया हुआ है । जागने वाले आख मे देखते हैं, कान मे सुनते हैं, नाक से सूघते है, जीभ से चखते हैं और शरीर मे स्पर्श का अनुभव करते हैं । उनकी बुद्धि इतनी दौडती है जिसकी हद नहीं । उसको कहते हैं कि वह जगा हुआ है । तो वह जग रहा है और पहले वाला सो रहा है—यह दुनिया की दृष्टि है । दुनिया जानती है कि सोया हुआ प्रमाद कर रहा है और जागने वाला सावधान है ।

लेकिन सोने और जागने की यह दुनिया की दृष्टि झूठी पड जाती है मगर उसके साथ अन्तःकरण को नहीं देखते हैं । एक व्यक्ति जग रहा है—अपनी इन्द्रियों से जरूर काम ले रहा है लेकिन अगर उसकी आत्मा सतत जागृत नही है तो उसका प्रमाद कहा छूटा ? वह आंख से जरूर देख रहा है, लेकिन हृदय से नहीं देख रहा है । कान से जरूर सुन रहा है, लेकिन आन्तरि-कता के साथ नहीं सुन रहा है । क्या कुछ कहू ? यह आप स्वयं अनुभव करिये कि कान से सुनी हुई बात भीतर भी उतरती है या उस कान से

वास्तविक भूख का उल्लेख है । आत्मा को इन सासारिक एव भौतिक पदार्थो से तृप्त होने का यदि प्रसग होता तो आत्मा कभी की तृप्त हो जाती—उसको कभी का सन्तोष मिल जाता । वह स्थायी शान्ति मे भी रमण करने लग जाती । लेकिन ऐसा नहीं हुआ है । आज जितनी ससारी आत्माए हैं, वे कर्म बधन से युक्त हैं—छद्मस्थ अवस्था मे चल रही हैं । जिनको सही भान नही हुआ है, उन आत्माओ से पूछिये क्या आपकी तृप्ति हुई आपको शान्ति मिली? किससे पूछें ? आप अपने से पूछिये और अपना अनुभव बताइये ।

आप वैभव के साथ अपने जीवन को लेकर चल रहे है । कइयो के पास धन, वाहन तथा सुख साधन पर्याप्त मात्रा मे हैं । इन सबको भोगते हुए क्या आपको सच्चा सुख मिला ? आप अपने अन्त' करण को टटोल कर बतावें। आप यही कह रहे हैं कि आपको सुख और सन्तोष नही है । और तो दूर रहा परिवार के सदस्यो से भी सन्तोष नही हैं—माता से भी सन्तोष नहीं है, बल्कि अपनी धर्मपत्नी से भी सन्तोष नही है । भूख वैसी ही चल रही है । यह क्यों ? इसका कारण यह है कि आत्मा की वास्तविक खुराक कुछ और है तथा उसको खुरक कुछ और ही दी जा रही है । इसलिये उसकी भूख बनी हुई है आत्मा यदि अपनी वास्तविक भूख को नही समझेगी तो जैसे अनादि काल से भूख बनी हुई है, वैसे आगे भी भूख बनी रहेगी । वह इन बाहरी साधनों से तृप्त होने वाली नही है।

भूख से तृप्ति को प्राप्त करने के लिये आत्मा को अपने अन्तःकरण मे देखना है, विवेक का दीपक जलाना है और महावीर प्रभु की वाणी को सतत जागृति के साथ ध्यान व आचरण मे रखना है । क्या सुना रहा हू महावीर की वाणी ? गाथा ध्यान मे है न ?

सुत्ते सुयावि पडिबुद्धजीवी, नोविससे पडिअ आसुपन्ने ।
घोका मुहुत्ता अबले शरीर, भारड पक्खी व चरेऽपमत्तो ।

गाथा छोटी लेकिन अर्थ महान् है । आप भावो को पकडें तथा अपने अनुभव को देखें कि आप अपने जीवन मे प्रतिक्षण क्या कुछ कर रहे हैं ? आत्मा सतत जागृत हैं अथवा नीद मे सोई हुई हैं ? वह जागृत है तो उसकी जागृति कैसे चल रही है—प्रमाद के साथ अथवा अप्रमत्त भाव से ? प्रमाद है तो सतत जागृति नही रह सकती है तथा प्रमाद का परित्याग सतत जागृति के

बिना संभव नहीं। आत्मा प्रतिक्षण जागृत रहती है, तभी वह अपनी अप्रमत्त अवस्था को प्राप्त कर सकती है। आत्मा की वास्तविक भूख है कि वह अपने स्वरूप का उच्चतम विकास करे—परमात्म स्वरूप का वरण करे और उसकी यह भूख सतत जागृति तथा अप्रमत्त अवस्था से मिट सकेगी, क्योंकि प्रमाद नहीं होगा तो उसका उस दिशा मे किया जाने वाला प्रत्येक पुरुषार्थ फलीभूत बनेगा।

अप्रमत्त आत्मा

सतत जागृत रहती है

भगवान ने कहा है—'सुत्ते सुमावि पडिबुद्धजीवीन' अर्थात् प्रतिबुद्ध-जीवी सोते हुए भी जागता है तथा निरन्तर अप्रमत्त भाव मे विचरण करता है। सोचें कि एक व्यक्ति सोया हुआ है ऊपर से देखकर सब कह रहे है कि सोया हुआ है। पांचो इन्द्रियो की क्रियाए बन्द हैं। आखो की पलकें गिर नही रही हैं। नाक श्वास लेता है, गंध नही लेता। कान मे शब्द जाते हैं, मगर कान उन्हे पकडता नही है। हवा स्पर्श कर रही है लेकिन स्पर्श ज्ञान सुप्त है। मन का सचरण भी व्यक्त रूप से नही हो रहा है। उसे देखकर सब यही कह रहे है कि वह सोया हुआ है। जगे हुए भी यही कह रहे हैं कि वह सोया हुआ है। जागने वाले आंख से देखते हैं, कान से सुनते है, नाक से सूंघते है, जीभ से चखते हैं और शरीर से स्पर्श का अनुभव करते हैं। उनकी बुद्धि इतनी दौडती है जिसकी हद नही। उसको कहते हैं कि वह जगा हुआ है। तो वह जग रहा है और पहले वाला सो रहा है—यह दुनिया की दृष्टि है। दुनिया जानती है कि सोया हुआ प्रमाद कर रहा है और जागने वाला सावधान है।

लेकिन सोने और जागने की यह दुनिया की दृष्टि झूठी पड जाती है मगर उसके साथ अन्तःकरण को नहीं देखते हैं। एक व्यक्ति जग रहा है—अपनी इन्द्रियो से जरूर काम ले रहा है लेकिन अगर उसकी आत्मा सतत जागृत नहीं है तो उसका प्रमाद कहां छूटा? वह आंख से जरूर देख रहा है, लेकिन हृदय से नहीं देख रहा है। कान से जरूर सुन रहा है, लेकिन आन्तरिकता के साथ नही सुन रहा है। क्या कुछ कहू? यह आप स्वयं अनुभव करिये कि कान से सुनी हुई बात भीतर भी उतरती है या उस कान से

निकल जाती है—आत्मा तक नही पहुचती आत्म भावो को नही छूती । बाहर और भीतर के बीच में दीवारें खडी हो गई हैं पर्दे लग गये हैं । यह भगवान् की वाणी मष्तिष्क मे घूमती हुई इन दीवारो से टकरा कर फिर बाहर निकल जाती है ।

यही सबसे बडा प्रमाद है । दीखता ऐसा है कि श्रोता वक्ता को एकटक देख रहा हैं और ऊपर से प्रमाद मालूम नही पडता है लेकिन ज्ञानी कहेगे कि वह प्रमत्त अवस्था में चल रहा है जो स्वय की आन्तरिक भूख को नही पहिचानता तथा उससे तृप्ति के प्रयास प्रारभ नही करता, वह प्रमादी है । और प्रमादी है तो सोया हुआ है चाहे वह ऊपर से जगता हुआ दिखाई देता हो । लेकिन जो निज की आन्तरिक भूख को जानता है तथा उस भूख को मिटाने का अथक पुरुषार्थ करता है, वह अप्रमत्त हैं—निरन्तर जागता है चाहे वह पाचों इन्द्रियों की दृष्टि से सोया हुआ हो । सोते भी जागती हुई ऐसी अप्रमत्त आत्मा ही प्रतिबुद्धजीवी कहलाती है ।

सोते हुए जागना
जागते हुए सोना

ऐसी होती है प्रतिबुद्धजीवी अप्रमत्त आत्मा जो सोते हुए भी जागती है । उसके आन्तरिक अनुभावो मे स्थायी रूप से जागृति का निवास हो जाता है । जागृति होती हैं तभी इस आत्मा में अप्रमत्तता आती है और अप्रमत्तता आती है तो सतत जागृति साधनारत रहती है । जहा प्रमाद हैं, वहां जागरण नही तो एक प्रमादी आत्मा जागते हुए भी सोती है । अप्रमत्त अवस्था का सम्बन्ध बाहर की जागृति से नही, भीतर की जागृति से होता है, जो भीतर से जागृत होता है वही सतत जागृत रहता हैं तथा वही अप्रमत्त और प्रतिबुद्धजीवी कहलाता है ।

ऐसे ही प्रतिबुद्धजीवी को भगवान् ने सम्बोधन दिया है कि काल पर विश्वास मत करो । जिन अनन्त ज्ञानियो ने अनुभव किया है, उसी अनुभव को उन्होने बताया है । उन्होने अनन्त योनियो में अनादिकाल से अनुभव किया कि ससार के ये पदार्थ विश्वसनीय नही हैं । इनसे आत्मा की तृप्ति होने वाली नही हैं, फिर भी आत्मा इसमें बहकी रहती है । इसलिए प्रतिबुद्धजीवियों को आत्म स्वरूप के अनुकूल खुराक जुटानी चहिये । वह खुराक क्या है—इसकी

पहिचान करनी चाहिये। ग्रात्मा की खुराक जिस रोज से ग्रात्मा को मिलने लगेगी, उसी रोज से ध्यान रखिये कि शान्ति मिलने का भी श्रीगणेश हो जायगा। वह कब मिलेगी—इसका सिद्धान्त उसमें है लेकिन उसको समझने की ग्रावश्यकता है। एक द्रव्य निद्रा से सोता है ग्रौर दूसरा भाव निद्रा से सोता है तथा तीसरा द्रव्य ग्रौर भाव दोनों प्रकार की निद्रा से सोता है। ऐसे तीन श्रेणियों के व्यक्ति ग्रापको इस दुनिया में मिल सकते है। जिन को ग्रात्मा की वास्तविक खुराक का ज्ञान नही है, वे दोनों प्रकार की निद्राग्रो में सोये हुए हैं। जिनको ग्रात्मा की वास्तविक खुराक का ध्यान हैं, उनके लिये कहा जायगा कि वे भाव निद्रा से जागृत हैं। ऐसे भाव जागृत व्यक्ति गृहस्थ ग्रवस्था में भी हो सकते हैं, परन्तु गृहस्थ ग्रवस्था में भी उनके जीवन के प्रयोग ग्रन्य गृहस्थों से भिन्न होंगे। जिनको ग्रात्मा की वास्तविक खराक का ध्यान भी है ग्रौर जिनकी समस्त वृत्तियां तथा प्रवृत्तियां उस खुराक को जुटाने के पुरुषार्थ में भी लगी हुई हैं, वे द्रव्य तथा भाव दोनों प्रकार की निद्राग्रों से जागृत कहलाते हैं चाहे वे द्रव्य निद्रा में सोते भी हैं। उनकी चेतना उनका ज्ञान, उनकी ग्रात्मा सतत जागृत रहती है।

शान्ति सुधारस का पान

सतत जागृति का ग्रर्थ है ग्रप्रमत्त ग्रवस्था, जिसकों पाने की साधना तपश्चर्या के रूप में भी होती है। महासती श्री जतनकुवर जी के ३१ का पूर है, बादाम कवर जी के २७ चल रहे हैं ग्रौर भी भाई बहिनो में तपश्चर्या का क्रम चल रहा है लेकिन तपश्चर्या का एक ही भेद नही हैं, उसके बारह भेद हैं ग्रौर इन बारह ही भेदों के माध्यम से ग्रात्मा के प्रमाद को दूर कर सकते हैं। यह तपस्या भीतरी स्वरूप को बदलने वाली है तथा शान्ति सुधारस का पान कराने वाली है क्योंकि शान्ति सुधा रस का ग्रास्वादन ग्रप्रमत्त ग्रवस्था में ही प्राप्त होता है। इसलिये ग्रपने हृदय की ग्रनुभूति के साथ इस रस का पान करें।

[दि. ७-६-७७]

देवत्व को पकड़ें !

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए...................

कवि ने इस प्रार्थना की पक्तियो मे प्रभु को सुख सम्पति के हेतु तथा भवसागर के सेतु कहा है । वे सुख सम्पत्ति के कारणभूत हैं तथा इस जन्म मरण की रूपी सागर मे अर्थात् ससार मे पार कराने वाले पुल (सेतु) के समान हैं । जो इस समुद्र मे तैरते–डूबते इस सेतु को पकड ले तो वह उबर सकता है । कारण, पुल का निर्माण ही पानी से ऊपर इस रूप मे होता है कि उसके ऊपर होकर पानी को छोडकर बाहर निकला जा सकता है । पुल निरभ्र रूप से पार करने का साधन होता है ।

तो भगवान् के वन्दन को पुल की उपमा दी गई है । इस उपमा के साथ किस वात का अनुसधान करें ? जहाँ सच्चा वन्दन होता है वहाँ मन वचन तथा काय के समस्त योग अन्त करण की पूर्ण विनम्रता के साथ नमते हैं । यह जो नमन है, वह आत्म स्वरूप तथा परमात्म स्वरूप के वीच मे पुल के समान वन सकता है कि आत्मा इस पुल के माध्यम से अपने परम स्वरूप तक पहुच जाय ।

यहाँ यह विचारणीय स्थिति है कि जव यह आत्मा स्वय परमात्मा वन जाने मे ही समर्थ है तो वह देवो की स्थिति से क्यो ललचाती है अथवा देवो को इधर उधर क्यो धोकती फिरती है ? देवयोनि का मनुष्य योनि के सामने कोई मूल्य और महत्व नही है । हाँ, मनुष्य देवत्व को पकडने का प्रयास अवश्य करे ।

सुख सम्पत्ति का लक्ष्य

मनुष्य का लक्ष्य है कि उसको आत्मिक सुख सम्पत्ति ऐसी मिले कि वह भी अपनी आत्मा के परम स्वरूप को प्राप्त करले। भगवान् को किये जाने वाले वन्दन को वहाँ तक पहुचाने वाले पुल की उपमा दी गई है कि उसके माध्यम से मनुष्य अपने लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है। यद्यपि यह उपमा विशेष महत्व रखती है लेकिन यह उपमा एकदेशीय दृष्टि से ही सही है। जिनमे सागर को तैरकर पार करने का सामर्थ्य नही हैं, वे ही सहज रूप से पुल पर होकर जाना चाहेंगे अर्थात् शक्तिहीन बूढे और बच्चे भी तथा पशु भी पुल पर होकर पार निकल सकते हैं तो क्या पुल शक्तिहीनता का प्रतीक हो जाता हैं ?

वैसे सुख सम्पत्ति प्राप्त करने के अनेक रास्ते हैं। वे रास्ते कठिन हैं, जिनको हर कोई अपने जीवन मे सामान्य रूप से स्थान नही दे सकता है। लेकिन वन्दन एक ऐसा रास्ता है जो यदि विनम्रता मे ओतप्रोत हो जाता है तो वास्तव मे पुल का काम कर देता है। यह विनम्रता शक्तिहीनता की प्रतीक नहीं होती है, बल्कि विनम्रता को विशेष शक्ति के बिना साधती नहीं हैं तथा जो विनम्र हो जाता है वह विशिष्ट रूप से शक्तिशाली बन जाता है। विनम्रता का विकास अपने आपमे अनूठा होता है। जिस व्यक्ति को यह ज्ञात हो जाता है कि वन्दन की सच्ची प्रक्रिया सध जाने पर अविनाशी सुख सम्पत्ति की प्राप्ति होती है तो वह वन्दन की तरफ अवश्य गतिशील होगा। लेकिन वन्दन किस स्थल पर करना ?

भगवान् के स्वरूप को मनुष्य भलीभाति पहिचान करके नमन करता है, तब तो नमन सच्चे रूप मे होना है परन्तु जहाँ भगवान् के स्वरूप या उनके मार्ग को नही पहिचानना और सिर्फ सिर झुका लिया तथा हाथ पैरो को मोड लिये तो दूसरो की दृष्टि मे तो वह वन्दन दीखता है, पर वस्तुत किसको वन्दन करना चाहिये तथा किसको वन्दन कर रहे हैं—इसका स्पष्ट ज्ञान नही हो तब तक वन्दन की पूरी सफलता प्रकट नही हो पती है। नमस्कार करने वाला व्यक्ति अपने जीवन के अन्दर नमस्करणीय अर्थात् [illegible] नमस्कार किया जा रहा है, अपने नमस्कार के माध्यम से उसके [illegible] ग्रहण करना चाहता है। इसलिये यदि नमस्करणीय गुणी व्यक्ति [illegible] कर्ता के जीवन पर उसके गुणो की छाप अवश्य पडेगी।

वन्दन तथा वन्दन के माध्यम से उत्पन्न होने वाली गुणशीलता ही उस पुल का निर्माण करती है. जो पुल सुख सम्पत्ति के लक्ष्य तक पहुचाता है ।

गुणशीलता का प्रवाह
विनय की सुगंध

पानी का बहाव सदा नीचे की ओर बहता है । पानी को जिधर ढलान मिलेगा, उधर ही जायगा—वह ऊपर की ओर नही चढेगा । इसी रूप मे गुणशीलता का प्रवाह भी नीचे की ओर बहता है याने कि विनय के ढलान पर प्रवाहित होता है आत्मिक गुणशीलता पानी के बहाव के तुल्य है जो नीचे की ओर बहकर मनुष्य को विनम्र बना देता है, बल्कि जो व्यक्ति विनम्र होता होता है, वह गुणशीलता को अपनी तरफ खींच लेता है, ठीक उसी तरह जिस तरह ढलान कीजमीन पानी के बहाव को अपनी तरफ खीच लेती है । हकीकत मे उसी ओर गुणो का प्रवाह प्रवाहित होता है जो विनम्र होता है तथा अकेले विनम्रता के गुण से ही उसका जीवन गुणो से लबालब भर जाता है । जिसने विनय की वृत्ति को अपना कर अपने आप को विनम्र नहीं बनाया तो समझिये कि उसके जीवन का धरातल ढलान वाला नही बना । लेकिन गुणशीलता का प्रवाह तो ढलान की तरफ बहेगा, ऊपर की ओर नही चढेगा । वैसे व्यक्ति का जीवन रिक्त रह जायगा और गुणहीन बन जायगा । वास्तवमे विनय की सुगध के बिना सारा जीवन गधहीन रह जाता है ।

इस दृष्टि से नमन के महत्व को समझिये । नमन इसलिये किया जाता है कि मनुष्य अपने जीवन को आत्मिक गुणो से समृद्ध बना सके । तो नमन कब होगा ? जब मनुष्य यह समझेगा और महसूस करेगा कि उसका जीवन सद्गुणो से रिक्त है अथवा उसके जीवन मे सद्गुणो की स्थिति पुष्ट नही हैं अथवा उसके जीवन मे दुर्गुणो का बाहुल्य हो रहा है तब उसकी आकाक्षा जागृत होगी कि वह अपने जीवन को गुणशील बनावे तथा उस उद्देश्य से वह वन्दन की प्रक्रिया की तरफ आकर्षित बनेगा । अभिप्राय यह है कि वन्दन करते समय मनुष्य के मन मे परमात्मा के समान ही अपनी आत्मा को भी गुणसम्पन्न बनाने की सच्ची आकाक्षा होनी चाहिये । गुणो के अभाव मे जीवन अन्दर से खाली-खाली लगता है तो उस रिक्तता की पूर्ति भगवान् को सच्चे हृदय से

वन्दन करके भली प्रकार की जा सकती है । यह वन्दन गुणशील विभूति को किया जाय तभी सार्थकता है वरना गुणहीन व्यक्तियो के आगे सिर झुकाते रहे तो उससे क्या मिलने वाला है ? जिस टकी मे पानी नही है उसके नीचे खडा होकर व्यक्ति कितना ही झुक–झुक कर पानी लेने की कोशिश करे, लेकिन वहाँ से पानी मिलने वाला नही है । टकी ही खाली है तो खाली घडे मे पानी कहाँ से आयगा ? गुणहीन से गुण कैसे फूट सकते है ? गुणवान को वन्दन करने से ही गुणशीलता का प्रवाह फूट सकेगा तथा नमस्कर्त्ता विनय से भरपूर होगा तो वह प्रवाह सुगध मय भी बन जायगा ।

सत्य को पहिचानने वाली आत्मा

जिन विभूतियो मे आत्मीय गुणो का प्रबल बाहुल्य होता है और जिनकी आन्तरिकता से गुण छलकते रहते है, उनके चरणो मे यदि कोई विनम्रतापूर्वक वन्दन करता है तो वह अपनी आत्मा को भी सद्गुणो से सजाए बगैर नही रह सकता है । ज्ञानी जनो ने इस विषय मे बहुत कुछ सकेत दिया है, उस सकेत को भव्य जनो को समझना और पकडना चाहिये । वन्दन और अवन्दन का प्रश्न भी टेढा है, लेकिन इस प्रश्न को अपनी हार्दिकता से ही हल करना होगा जब यह प्रश्न सहज रूप मे हल हो जाता है फिर जीवन के अन्दर कुछ विशेष गुणो का प्रवेश सहज रूप मे ही हो जाता है ।

सम्यक् दृष्टि आत्मा, जिसने सत्य को सही स्वरूप मे समझा है—सत्य शिव सुन्दर के मर्म को पहिचाना है, वह आत्मा वन्दन के सत्य को भी भलीभाति पहिचान सकती है । उसका सिर ऐसो वैसो के पैरो मे नहीं झुकता फिरेगा । वह सम्यक् दृष्टि आत्मा यह सोचती है कि मैं जिसको नमस्कार करने के लिये झुकना चाहती हू, उसका जीवन–स्वरूप कैसा है ? वह सिद्ध और अरिहत भगवान् के स्वरूप का स्मरण करती है जिनके पीछे किसी नाम, जाति या वर्ग का निर्देश नहीं होता है । उनका सम्पूर्ण स्वरूप सिर्फ गुणों का पुज ही होता है । जो आत्माए अपने जीवन मे राग, द्वेष, काम, क्रोध, मद, मत्सर, तृष्णा का समूल विनाश करके सद्गुणो को पा लेती है, वे ही अरिहंत पद को प्राप्त करती है और मोक्ष प्राप्त कर लेने पर वे ही सिद्ध बन जाते है । अरिहत की आत्मा शरीर मे रहते हुए [illegible] है, लेकिन [illegible] अनन्त शक्ति से परिपूरित होती है । [illegible]

की परीक्षा करनी होती है कि नमस्करणीय कौन हो सकता है ? तब उनको वन्दन का सत्य स्पष्ट होता है ।

आत्मा का जो लक्ष्य है, उसका परिपूर्ण स्वरूप सिद्ध भगवान् मे होता है । वह लक्ष्य मोक्ष है, जहाँ से लौट कर फिर ससार मे आना नही होता है तब अपुनरावृत्ति की अवस्था आ जाती है । इसका अर्थ है कि आत्मा पुन गर्भ मे नही आती—जन्म, जरा और मरण मे नही उलझती तब उसको अजरामर स्थान सिद्ध स्थान मिल जाता है । ऐसा सिद्ध स्थान जिन्होने पा लिया है, वे अरिहत और सिद्ध इस ससारी आत्मा के लिये आध्यात्मिक सुदेव के रूप मे वन्दनीय तथा नमस्करणीय होते हैं । अन्य प्रकार के तथाकथित देव न तो मनुष्य के लिये वन्दनीय होते है और न मनुष्य के लिये उनको वन्दन करना शोभास्पद अथवा योग्य होता हैं

देव-योनि मनुष्य के लिये आकर्षण का केन्द्र नहीं होनी चाहिये

शास्त्रो मे प्रसगोपात्त खगोल, भूगोल सम्बन्धी वर्णन किया गया है, उसमे चारो भाति की देव योनि का वर्णन आया है । ये देव योनिया हैं भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष तथा वैमानिक । ये देव योनिया भी मनुष्य योनि के समान ही सासारिक जन्म मरण की योनिया हैं । मनुष्य जिस प्रकार अपना व्यवहार रखता है—जिस तरह की अपनी दिन चर्या बनाता है, लगभग वैसा ही व्यवहार तथा वैसी ही दिन चर्या देवो की भी होती है । मनुष्य और देवो के शरीर मे अन्तर होता है ।

मनुष्य का शरीर अन्न जल से निर्मित होता है तथा उनकी सहायता से ही बढता और चलता है । मनुष्य शरीर के मुख्य तत्त्व रक्त, मांस, हड्डी, मज्जा आदि होते हैं । देवो के शरीर मे ये तत्त्व नही होते है । देवो के लिये मनुष्य का भोजन भी काम मे नहीं आता है । देवो का शरीर बनाने मे दूसरे ही तत्त्व काम मे आते हैं जिनको वैक्रिय पुद्गल कहते हैं । उनका शरीर जल्दी ही बन जाता है—इतना जल्दी कि आपकी सामायिक आने मे देर लगे लेकिन उनका शरीर जल्दी से निर्मित हो जाता है ।

मनुष्य लोक मे जब मनुष्य धर्म करणी करके अधिक पुण्यवानी का

संचय कर लेता है तो उसको देव योनि प्राप्त करने का अवसर आ सकता है। देव योनि मे गर्भ धारण करने का प्रसंग नहीं होता है । मनुष्य माता के गर्भ से उत्पन्न होता है परन्तु देव माता के गर्भ से पैदा नही होता है । वहां एक शय्या रहती है जिस पर श्वेत पट बिछा हुआ होता है । यहां से जैसे ही एक पुण्यवान आत्मा शरीर छोडकर जाती है, वैसे ही अंगारों पर रोटी के फूलने के समान वह श्वेत पट फूल जाता है । उस पट के नीचे आत्मा पहुचती है तो वहां पर रहने वाले देवो के योग्य जीवन के वैक्रिय परमाणु चारों दिशाओ से खिचकर उस पट के नीचे पहुच जाते हैं - तब दिव्य शरीर का निर्माण हो जाता है । अन्तर्मुहूर्त मे एक युवा शरीर उस शय्या पर उठ कर बैठ जाता है । इस प्रकार देव का जन्म होता है।

देवो की वैक्रिय लब्धि एक प्रकार की शक्ति होती है जिससे वे देव अपने शरीर कई प्रकार के शरीरो का निर्माण भी कर सकते है, जिनका वह उपयोग कर सकते है । एक रूप के अनेक रूप बना सकते है । जैसा सुन्दर रूप उनको वहां प्राप्त होता है, उसे भी वे परिवर्तित करने मे समर्थ होते हैं। वे चाहे तो मनुष्य लोक के जगल में न्यूयार्क जैसा विशाल नगर खडा कर सकते है तथा अन्यान्य लीलाए रच सकते हैं । यह भौतिक दृष्टि की शक्ति उनमे होती है और इस शक्ति के प्रयोग से वे कभी कभी मनुष्य लोक मे भी आ जाते है लेकिन उच्च जाति के देवो का मनुष्य लोक मे आना कभी कभार ही होता है । जब कभी तीर्थंकरों का जन्म होता है—उनकी दीक्षा व देशना होती है—उनका केवल ज्ञान या मोक्ष होता है, तभी विशिष्ट कार्यो के निमित्त विशिष्ट देवों का यहां आगमन होता है । लेकिन नीचे के जो व्यन्तर देव होते है, उनका परिभ्रमण बिना किसी विशेष कार्य के भी इस तिरछे लोक मे होता रहता है । वे यदा कदा विचरण करते रहते हैं तथा कभी-कभी अपने कौतुक भी दिखाते रहते हैं ।

आज के मनुष्यो के मस्तिष्क में देव योनि, देव जीवन तथा देवो के विषय की बडी हलचल रहती है—वह इसी दृष्टि के परिणाम स्वरूप है । वे व्यन्तर जाति के देव विभिन्न रूप बनाकर यहां पहुच जाते हैं और अनेक स्थलों पर अपनी कलाए दिखाते हैं । उनकी इस कलापूर्ण शक्ति से साधारण व्यक्ति प्रभावित हो जाते है । वे सोचते है कि यह दैवी चमत्कार है और इसलिये यहां नमन होना चाहिये । यह मनुष्य की हतप्रज्ञता का परिणाम होता है ।

किन्तु वास्तव में देव योनि मनुष्य के लिये आकर्षण का केन्द्र नही बननी चाहिये, कारण, इस देव योनि का कोई आध्यात्मिक महत्त्व नही होता और देव जीवन भी विकारो से परिपूर्ण रहता है। उसका मनुष्य योनि की तुलना में आध्यात्मिक रूप में कोई महत्त्व नही होता है।

देव भौतिकता से सम्पन्न
आध्यात्मिकता से नहीं

लोग देवो के चमत्कार देख कर प्रभावित होते हैं और उनको नमन करने लग जाते हैं। यह नही सोचते कि कहाँ नमन कर रहे हैं? किसको नमन कर रहे हैं? ये देव भी मानव की तरह कौतूहल प्रिय होते हैं। विकारो की दृष्टि से भी विकार रहित नही होते हैं। उनका मन भी मोह मुक्त होता है। ये देव अपनी भौतिकता तथा ऋद्धि सिद्धि से कितने ही सम्पन्न हो, किन्तु आध्यात्मिकता से उतने सम्पन्न नही होते आध्यात्मिकता के क्षेत्र मे वे कोई पुरुषार्थ नहीं कर पाते हैं। इसका असर यह होता है कि जितना आध्यात्मिक दृष्टिकोण का अभाव होता है, उतनी ही विकरो की उनकी अधीनता अधिक हो जाती है। जिन देवों की वृत्ति मनुष्य की वृत्ति की तरह मोहादि से सम्बद्ध होती है, उनके विषय मे कह रहा था, वे भी अपने जीवन मे मोहादिक का व्यवहार रखते हैं। फर्क इतना ही रहता है कि वे मर्त्य लोक के प्राणियों की तरह नही होते तथा उनके सन्तान की उत्पत्ति मनुष्य की तरह नही होती है। लेकिन विकारपूर्ण भावना न्यूनाधिक अंको मे उनमे भी पाई जाती है। वे भौतिकता की दृष्टि से भले ही बढ़े हुए हों, लेकिन आध्यात्मिक दृष्टि से वे मनुष्य की अपेक्षा भी नीचे स्तर पर रहते हैं।

इस दृष्टि से विचार करें तो विदित होगा कि आत्मिक दृष्टि से मनुष्य योनि के सामने देव योनि का कोई विशेष महत्व नहीं माना गया है। देव कोई व्रत प्रत्याख्यान नही कर सकता एव साधना की दृष्टि से कोई कदम नहीं उठा सकता है, जबकि मनुष्य योनि मे दृढ सकल्प के साथ समुचित साधना की जाय तो सर्वोच्च आत्मिक विकास भी सम्पादित किया जा सकता है। मनुष्य योनि की मुख्य महिमा ही यह है कि आध्यात्मिक विकास की ऊचाइयो पर चढने का काम सिवाय मनुष्य योनि के अन्य योनि मे दुष्कर होता है। मनुष्य जन्म को इस कारण दुर्लभ बताया है।

देव योनि के ऐसे देवों के लिये आध्यात्मिक दृष्टि का नमस्कार करने को नहीं कहा गया है। नमस्कार उन अरिहृत को करें जो सुख सम्पत्ति के हेतु तथा भवसागर के सेतु हैं। जो सम्यक दृष्टि आत्मा व्रतो को अंगीकार करके चलती है, वह व्रतधारी श्रावक की सज्ञा पा लेती है। उसके लिये आध्यात्मिक दृष्टि से पांचवा गुणस्थान होता है, जबकि देव यदि सम्यक्त्वी है तो उसके लिये चौथा गुणस्थान ही रहेगा। व्रतधारी श्रावक बडा होता है और सम्यक् दृष्टि देव भी उससे छोटा होता है। यदि विनय पद्धति के अनुसार नमन का प्रसग हो तो देव उस व्रतधारी श्रावक को नमन करता है और श्रावक के जीवन में जो गुण गरिमा होती है, उसकी वह सराहना करता है। देव योनि मे गुणो को ग्रहण करना परिपूर्ण रीति से नही बन सकता है, लेकिन वे वन्दन करके अपनी पुण्यवानी को अवश्य बढ़ा सकते हैं।

देवों को नमें या नमावें ?

इस रूप मे देवों की स्थिति मनुष्य की स्थिति से भिन्न होती है। मनुष्य जीवन मे रहने वाले कई सम्यक् दृष्टि भी होते हैं तो कई श्रावक व्रतधारी भी होते हैं। आज के युग मे कुछ ऐसी दुर्बलता आ गई है कि श्रावक व्रत के अनुसार आराधना करने वाले मानव भी देव को अपने ऊपर रख कर चलते हैं तथा उनको नमन करने को तत्पर हो जाते हैं, यह सैद्धान्तिक दृष्टि का नमन नही है। उनको नमन मनुष्य अपने स्वार्थ के वशीभूत हो कर करता है तथा कभी इधर तो कभी उधर झुकता रहता है। इस मे भी जब वह अपने विवेक को छोड़ बैठता है तो जहां देव योनि के देव का भी प्रसग नहीं होता, वहां एक सिन्दूर लगे पत्थर को भी अपना सिर झुकाने मे देर नहीं लगती है। अन्ध विश्वास के ऐसे कई किस्से आपको मालूम होंगे

अज्ञान मे मनुष्य अपने सिर को इतना सस्ता बना लेता है कि किसी ने यो ही पत्थर पर सिन्दूर पोत कर रख दिया तो भद्रिक भाई उसको भैरु जी या और कुछ मानकर अपना सिर झुकाने लग जाते हैं। इस तरह की मेरे बचपन के अनुभव की एक बात आपको बता देता हूं। गृहस्थाश्रम की दृष्टि से मैं एक छोटे गांव मे रहता था, जहां अधिकतर छोटे जाति के लोगो के घर थे। वहां पर एक व्यक्ति जगदम्बा का स्थाप बना सिन्दूर आदि

पोत कर आ रहा था। हम पास में ही खेल रहे थे। वह भोपा था। उसने वहा से एक पत्थर उठा कर सिन्दूर पोत दिया और उसको थरप दिया। यह वही पत्थर था जिस पर हम रोज अशुचि किया करते थे। वह पत्थर भैरूंजी वन गया और लोग पूजा करने लगे। यह मेरी आखो देखा दृश्य है। अब ऐसे पत्थरो की एक जैन और एक श्रावक भी पूजा करने लगे तथा उसको नमन करने लगे तो उस को क्या कहे ? अज्ञान की हद हो जाती है। जहां चमत्कारी देवता को भी आध्यात्मिक दृष्टि से नमन का निर्देश नही है, वहां ऐसे अन्ध विश्वासो के आगे झुकना क्या लज्जाजनक नही है ? उन्ही पत्थरो पर कुत्ते पिशाव करते रहते हैं और भद्रिक लोग उनके आगे अपने सिर झुकाते रहते हैं। क्या वह नमन का स्थान है ?

देवों को आप नमे या देवो को आप नमावें, क्या करना चाहते हैं आप ? आध्यात्मिकता के धनी आप वन सकते हैं, देव नही ? अहिंसा, सयम और तप रूप धर्म की कठोर आराधना आप कर सकते हैं, देव नही। बल्कि आप ऐसी कठोर आराधना सफलतापूर्वक करते हैं तो देवता भी आपको नमस्कार करने के लिये आयेंगे। जहां देवताओ को अपने चरणो मे झुकाने की शक्ति आपके भीतर रही हुई है, आप उस शक्ति को भूल जांय वल्कि उस शक्ति को गिरवे रखकर आप ऐसे वैसे देवों और सिन्दूर लगे पत्थरो को अपना माथा नमाते चलें तो फिर आपकी आत्मा के तेज का क्या होगा ? यह आपके लिये गंभीरता से विचार करने लायक वात है।

देवत्व को पकड़ें !

देव योनि के देवों के पीछे पडने की इस दृष्टि से कोई आवश्यकता नही हैं, वल्कि अविवेक से यदि इधर उधर धोकते फिरते हैं तो ध्यान रखिये कि वैसा करके आप मिथ्यात्व का ही पोषण करेंगे। और देवो का क्या, मनुष्य अपनी साधना शक्ति के साथ देवो से तो खुद ऊचा होता है। जिस वृत्ति को देवत्व की वृत्ति कहते हैं और जो मनुष्यता से भी ऊपर अपनी साधना मे अधिक दिव्य मानी जाती है, उस वृत्ति को पकड़ें तथा स्वयं के जीवन को ही ऐसा आदर्श रूप बनावें कि दुनिया आपको मनुष्यो मे देव रूप पूजने और नमने लगे। ऐसे आध्यात्मिक देवत्व को प्राप्त करना मनुष्यता से भी ऊपर की मंजिल में पहुंच जाना कहलाता है। देवत्व वीतराग देवों की दिव्यता मे प्रस्फुटित होने वाला आत्मिक तेज ही होता है।

जहाँ तक वन्दन करने का प्रसंग है, आपकी प्रथम दृष्टि गुणशीलता की तरफ जानी चाहिये तथा नमस्करणीय के गुणों के प्रति परीक्षा बुद्धि भी जागनी चाहिये । नमस्कार करने वाले का यह तो पहला ध्यान होना ही चाहिये कि मैं जिसको नमस्कार कर रहा हू, उसमें कम से कम मेरे मे अधिक गुण अगर उसमें है तो वह वन्दनीय है । मेरे से नीचा है तो वन्दनीय कैसे होगा ? वहाँ मे गुण रूप पानी कैसे आयगा ?

मनुष्य जीवन मे ऐसे प्रसग आते हैं जब वह अपनी विवेकशीलता तथा परीक्षा बुद्धि का प्रयोग करने में चूक जाता है । तथा साधु जीवन की पोशाक मात्र देखी की झट से कह देंगे—गुरुदेव, पधारिये । यह नहीं सोचेंगे कि इस साधक की गुणशीलता क्या है ? अमरावती से आज कोठारी जी आये थे, वे बता रहे थे कि एक पोशाकधारी अपने को साधु बता कर वहा के स्थानक में चातुर्मास के निमित्त से रहने लगा—बता दिया कि गुरुजी मार्ग में काल कर गये सो वह अकेला ही रह गया । सभी व्याख्यान सुनते और सम्मान देते थे, लेकिन किसी ने भी यह पता लगाने की चेष्टा नही की कि सचाई क्या है ? फिर वह ज्योतिष, जादू टोना सब कुछ बताने लगा । फिर भी लोग उसको साधु मानकर नमन करते रहे - यह कितनी असावधानी है—परीक्षा बुद्धि का कितना अभाव है ? फिर कहते हैं कि उसने चन्दा वगेरा भी इकट्ठा किया तथा वह उसी चौमासे में पैसे लेकर गायब हो गया ।

श्रावक लोग यदि ऐसा भोलापन रखेंगे तो कोई भी स्वार्थी व्यक्ति विकारों के पोषण की दृष्टि से साधु की पोशाक पहिन लेगा—उसको देर क्या लगेगी ? सुना है, ऐसे भी साधु वेशधारी हैं जो रेल में बैठ कर चले जाते हैं, पातरे और पोशाक लेकर जाते हैं और पैसे बटोर कर रवाना हो जाते हैं । इसलिये कोरी पोशाक देख कर ही पीछे नहीं लग जावें । जिसको नमन कर रहे हैं, पहले उसकी गुणशीलता को परखें । कसौटी साधु आचार की दृष्टि से ठीक मालूम पड़े, तब अवश्य नमन करें और सम्मान दें । आप देवत्व को पकड़ना चाहें तो डोरी गुणशीलता की ही अपनानी पड़ेगी और उसी को पकड़ कर देवत्व तक पहुंचना होगा । देवत्व कोई अलग अवस्था नहीं है—गुणशीलता से समृद्ध जीवन ही देवत्व को द्योतन करने वाला हो जाता है ।

देवत्व का प्रतीक होता है साधुत्व

चार अपने गुहस्थाश्रम में रहते हैं और प्रकट रूप में कहते हैं कि

हम गृहस्थ हैं, संसार के विषयों का सेवन करते हैं, परिग्रह रखते हैं और आरभ समारंभ करते हैं। आप झूठ नही बोलते इस रूप में तो यह आप में सत्य का गुण हुआ। लेकिन एक अपने आपको पच महाव्रतधारी साधु बतावे और छिप कर पांचों महाव्रतों को तोडे चाहे, अकेला या ग्रुप बना कर—फिर भी कहता रहे कि मैं सत्य बोल रहा हू—मैं साधु हूं। तब क्या उसको परखने की आपके पास में कोई कसोटी नहीं है? भगवान् ने श्रावकों को साधुओं के "अम्मा पिया" क्यो कहा? आप इतना अन्तर तो आंक ही सकते हैं कि इस वेश के अलावा एक गृहस्थ के और वैसे साधु के गुणों में क्या अन्तर है?

साधुत्वे देवत्व का प्रतीक होता है और जो एसे दिव्य साधुत्व को अपनी असाधुता से कलंकित करता है—उसकी आप परीक्षा नहीं कर सकते और अन्धे बन कर उसको भी नमस्कार करके मान दे देते हैं तो यह कैसी बात है? दो कुए हैं - एक खुला हुआ और दूसरा ढका हुआ। खुले हुए कुए के पास में जाने वाला आसानी से बच सकेगा, किन्तु ध्यान रखते-रखते भी ढके हुए कुए में कोई गिर सकता है। साधु वेशधारी को ढका हुआ कुए मानकर श्रावकों में अत्यधिक सतर्कता की भावना होनी चाहिये। लेकिन कभी किसी श्रावक के मुंह से ये शब्द सुनने को मिले कि साधु आचार से गिरे हुए हैं तो क्या—हमसे तो अच्छे ही हैं। ये शब्द सही हैं या गलत? स्वयं अपने पाप को वे स्वीकार करते हैं और उस असत्य भाषी तथा अनाचारी साधु के पाप को ऐसा कहकर टाल देते हैं। जिसमें साधुता नही, उसको साधु कहने को तत्पर हो जाते हैं और अपना सिर झुका देते हैं।

इसके लिये ज्ञानियो ने निर्णय लिया है। कहा है—

पासत्थ वदमाणस्स नेव कित्ति न निज्जरा होई।
होई काय किलेसो, अन्नाण कम्मंच पवघई॥

शिष्य ने अपने गुरु से पूछा—साधु व्रतो को अंगीकार करके जो महाव्रतो का पालन नहीं कर रहा है, उसको वन्दन करने से क्या फल मिलेगा? उत्तर मिला वन्दन करने से जिन जिन फलो की प्राप्ति होती हैं, उनमे से कोई भी फल नहीं मिलेगा। अब आप ही इसका इसका विज्ञान करलें। ऐसे साधु वेश धारी को वन्दन करने से मिथ्यात्व का दोष भी लगेगा तथा जन्म जन्मान्तर तक उससे शुद्धि का मार्ग कठिनता से मिलेगा।

यह कथन अनुभूतिपूर्ण है सत्य है, क्योंकि इस पवित्र निर्ग्रंथ श्रमण संस्कृति के जो संस्थापक तीर्थंकर हैं, उन्होंने स्वय ने तपश्चरण करके व्रतों से आत्म शक्ति को सम्पादित करके तथा आध्यात्मिक नैतिकता का मार्ग दर्शन देकर के चतुर्विध सघ के चारों अगो के आचार पर पूर्ण प्रकाश डाला है। उसको ध्यान मे नहीं रख कर जो श्रावक विपरीत वृत्ति वाले साधु को वन्दन करते हैं तो वे अपनी आत्मा का भी अहित करते हैं तथा उस साधु वेशधारी की आत्मा का भी अहित करते हैं। इसके सिवाय दिव्य साधुत्व को दुनिया की दृष्टि मे नीचे गिराते हैं। साधुत्व को कसोटी पर चढावें तथा उसे देवत्व के दर्जे पर बनाये रखें वरना इस अध वृत्ति से बडा अहित होगा।

देवत्व की कुंजी है—
सद्गुणशीलता

पवित्र निर्ग्रंथ श्रमण सस्कृति की सुरक्षा तभी हो सकेगी जब साधुत्व की श्रेष्ठ परम्पराओ तथा मर्यादाओं को अक्षुण्ण बनाये रखेंगे। इसके लिये स्वय को सद्गुणशीलता अपनानी होगी तथा इसी कसोटी पर साधुता को कसकर अयोग्य साधुओं को उन की अयोग्य वृत्तियों से दूर करना होगा। साधुत्व की गरिमा इसी तरह बनी रह सकेगी और देवत्व का दिव्य आलोक ससार का पथ प्रशस्त कर सकेगा। ध्यान रखें कि देवत्व की कुजी है सद्गुणशीलता, जिसके परम विकास पर स्वय देवता आते हैं और गुणी को नमस्कार करते हैं।

(दि ८-६-७७)

अन्तःकरण का माध्यम

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए.....................

मानव का जीवन एक विशिष्ट संरचना है। यह एक दृष्टि से सृष्टि की अति महत्त्वपूर्ण रचना है। किसी भी कार्य के सम्पादन मे कारण का माध्यम अवश्य होता है। कारण के बिना कोई कार्य नही बनता है। कारण एक ऐसा माध्यम है, जिससे कार्य की विद्यमानता होती है और उसकी भव्यता भी दिखाई देती है। कारण शुद्ध है तो कार्य भी पवित्र होगा। कारण की अशुद्धि की अवस्था मे कार्य की पवित्रता भी सदिग्ध बनी रहती है। बल्कि अशुद्ध उपादानो से अशुद्ध कार्य ही सम्पादित होगा। इसमे निमित्त का प्रसग अलग है।

कारण रूप माध्यम के अनुसार ही कार्य रूपी फल प्रकट होता है। कारण को भी पैदा करने वाला एक और माध्यम होता है। मनुष्य के इस जीवन मे जो भी कार्य बनता है, उसका मूल उसका विचार होता है तथा वह विचार उत्पन्न होता है अन्तःकरण मे। इस दृष्टि से माध्यमों का माध्यम होता है अन्तःकरण। इस अन्त.करण के माध्यम से ही मनुष्य की वृत्तिया पैदा होती है, जिन के अनुसार उसके जीवन की प्रवृत्तियो का रूप सामने आता है। इस माध्यम का स्वरूप जैसा होगा शुभ या अशुभ—वैसा ही वृत्तियों का निर्माण होगा।

जहा भौतिक विज्ञान की गतिविधि है वहा भी माध्यम की आवश्यकता महसूस की गई है। वैज्ञानिक भी यह अनुभव कर रहे हैं कि वायरलैस के आधार पर जो सूचनाए दी जाती है, उसमें माध्यम अवश्य है। तार का माध्यम स्पष्ट दीखता है लेकिन वायरलैस पद्धति में तार सम्बन्ध नही होता है। यदि आकाश में माध्यम न हो तो वायरलैस के द्वारा सूचनाए नही दी जा सकेंगी। इतने समय तक वैज्ञानिक इस तत्व को 'ईथर' के नाम से पुकारते थे, लेकिन प्रबुद्ध वैज्ञानिक निरन्तर गति के माध्यम की खोज करते रहते हैं। वे अब इस निष्कर्ष पर पहुचे हैं कि जिसको अब तक माध्यम रूप माना गया है वह तो स्थूल माध्यम मात्र है लेकिन उसके अतिरिक्त सूक्ष्म माध्यम भी अलग है जो आधारगत हैं। उसके विषय में खोज जारी है। यह सूक्ष्म माध्यम धर्मास्ति-काय है। प्रत्येक कार्य में यह आवश्यकता पाई जायगी कि इसके बिना गति रूपी कार्य सम्पन्न नही हो सकेगा।

भीतरी माध्यमों का माध्यम
अन्तःकरण

भीतरी जगत् में जीवन में परम सुख और शान्ति प्राप्त करने का माध्यम प्रार्थना को माना गया है क्योकि प्रार्थना की यथार्थता में परमात्म स्वरूप पर चिन्तन होता है—उस स्वरूप के साथ निजात्मा के स्वरूप की तुलना होती है तो उस तुलना से अनुप्रेरित होकर आत्म-साधना के कार्य में प्रवृत्ति होती है, जिससे जीवन मे परम सुख और शान्ति की प्राप्ति सभव बनती है। इस प्रार्थना का मूल माध्यम वन्दन को बताया गया हैं कि जब तक एक प्रार्थी मन, तन, लगन से सम्पूर्णतया विनयावनत होकर प्रभु को वन्दन नही करता है तो उसकी प्रार्थना में यथार्थ उत्पन्न नही हो सकता है। यह वन्दन कहा से प्रारंभ हुआ इसकी वास्तविकता किस रूप में परिलक्षित होती है—इस विषय में चिन्तन का बहुत अवकाश है। इसका चिन्तक व्यक्ति अलग-अलग तरीके से विश्लेषण करते हैं। कुछ ऐसा कहते हैं कि आध्यात्मिक जीवन को पहले बाहर के माध्यम से प्रारभ किया जाय और यह माध्यम सबसे पहले नमस्कार या वन्दन के रूप में हो सकता है। वन्दन करने के लिये दोनो हाथो, दोनो घुटनो तथा सिर की क्रिया होती है—इन सबके साथ सारा शरीर झुकता है। वे यह प्रतिपादित करते हैं कि इस नमस्कार की पद्धति का प्रारभ बाहर के अव-यवो को झुकाने के लिये हुआ। उनका यह कहना है कि भीतर की तरफ झुकने की आवश्यकता अलग बात है।

किसी भी दिशा मे अतिवादी चिन्तन समस्या की सुलझन प्रस्तुत नहीं करता है। सही सुलझन दोनो दृष्टिकोणो के समन्वय मे रही हुई है। बाहर के माध्यम भी माध्यम का काम देते है। वे कभी भीतरी माध्यम को जगाते हैं तो कभी भीतरी माध्यम की शक्ति को भी प्रकाशित करते है। उनकी भी अपनी उपयोगिता है। किन्तु सभी माध्यमो का माध्यम यह अन्त करण होता है–इसे नही भूलना चाहिये।

माध्यमो का अतिवादी रूप

जब जीवन के माध्यमो के सम्बन्ध मे बुद्धिवादियो के विभिन्न अति-वादी दृष्टिकोण सामान्यजनता सुनती है तो वह किंकर्त्तव्य विमूढ हो जाती है तथा सही सूत्र पकड नही पाती है। भावी पीढी की बालिकाए और बालक भी, जिनकी बुद्धि का विकास अभी विद्यालयो मे हो रहा है, इन माध्यमो से सम्बन्धित दृष्टिकोणो को सुनते हैं तो इस सारे तर्क वितर्क को लेकर माध्यमो के समन्वित रूप का ज्ञान नही कर सकते हैं। जब समन्वय का ज्ञान उन्हे नही होता है तो वे भी आध्यात्मिक जीवन से दूर भागने लगते हैं। कई बार तो बाह्य जीवन से भी दूर भागने लगते हैं और इस रूप मे वे जीवन मे निराशावादी बन जाते हैं।

प्राचीन काल मे एक बहुत बडा सम्राट् था। उसकी धार्मिक श्रद्धा सामान्य थी। जहाँ कही भी सत्सग का प्रश्न आता, वह वहाँ पहुचता था। एक बार उसने महात्मा बुद्ध के भिक्षु वर्ग के भेष मे एक भिक्षु को देखा तो वह उसके मठ मे पहुच गया। बुद्ध के भिक्षुओ के लिये मठ हुआ करते थे। वहाँ सब कुछ कार्य हुआ करता था। भोजन आदि की व्यवस्था वही होती थी और आगन्तुको समेत सब भोजन वही करते थे। जहाँ तक जानकारी मिली है, भिक्षु जन मांस का भी सेवन करते थे। महात्मा बुद्ध ने अपने भिक्षुओ को यह छूट दे दी थी कि यदि मुर्दा मास मिल जाय तो उसको ग्रहण करलें। इस छूट से इतना विस्तार हो गया कि मुर्दा जिन्दा प्राणियो का मास बहुत उपयोग मे आने लगा। महात्मा बुद्ध भगवान् महावीर के ही समकालीन थे लेकिन दोनो के अनुयायियो के आचार विचार मे इस प्रकार रात दिन का अन्तर था। उसी अन्तर के परिणाम है कि महावीर के अनुयायियो मे सस्कारो की ऐसी ज्ञानवती परम्परा बन गई कि आज भी एक जैन बालक मास भक्षण

उपदेश देते हैं ? भिक्षु ने कहा—मैं खुला उपदेश देता हूं, डरता नहीं हूं–स्पष्ट और सचोट वात कहता हू कि मनुष्य बाहर कुछ नही होता, जो कुछ होता है भीतर होता है । बाहर से कुछ भी करो उसका अन्दर से कोई सम्वन्ध नही है । मनुष्य चाहे जो खावे, पीवे, हिंसा करे, लूट मचावे, शील भग करे–उससे कुछ नही होता । अन्दर इन सबसे अलग रहता है ।

सम्राट् ने कहा—आप भिक्षु का भेष लेकर चल रहे हैं - ऐसा मत कहिये । वाहर भी सत्य होता है । अन्दर है, वह वाहर नही है–यह वात गलत है। यह बात युक्ति सगत भी नही है । इससे अराजकता फैलती है तथा सारी सामाजिक व्यवस्था नष्ट भ्रष्ट होती है । आप अपने विचारो को वदलिये । भिक्षु ने कहा मैं अपने विचारो को क्या बदलूगा—आप भी मेरे विचारो को मानिये । सम्राट्ने समझ लिया कि यह भिक्षु तर्क वितर्क से मानने वाला नही हैं। तर्क तो ऐसी तलवार होती है जिस को जिधर चाहो उधर घुमादो उससे समस्या का हल नहीं होता हैं । वस्तुत समस्या का समाधान तो अनुभूति से होता है।

सम्राट् ने अपने अनुचरो को सकेत दिया कि अमुक जो पागल हाथी है उसको मदिरा पिला कर बाहर मैदान मे छोड दें । 'उधर भिक्षु को उन्होने कहा—अच्छा भिक्षु जी, जो कुछ है सो अन्दर मे 'है—बाहर कुछ भी नहीं है-माया मोह है वह सब व्यर्थ है, झूठ है, कुछ नही है । आप जाइये । हाथी की व्यवस्था ऐसी की गई थी कि मैदान मे मस्त होकर चिघाड रहा था और उस मैदान मे होकर ही बाहर जाने का मार्ग था । राजमहल से निकलते ही भिक्षु ज्यो ही मैदान मे उतरा कि हाथी उधर भागता हुआ आया तथा भिक्षु को सूंड मे पकड कर जमीन पर पटकने लगा । अब भिक्षु चिल्लाने लगा—मुझे बचाओ, मुझे बचाओ । सम्राट् बाहर आये और बोले—क्यो चिल्ला रहे हो, भिक्षु, बाहर तो तुम हो ही नही—यह बाहर सब माया है, इस से छुडाने की आवश्यकता ही क्या है ? भिक्षु रोने लगा—किसी तरह मेरे जीवन को बचा लीजिये । मेरी मान्यता गलत है, मैं अपने विचारो को बदल लूगा और अपने आचरण को सुधार लूगा ।

जब यह भली प्रकार विदित हो गया कि उस भिक्षु को पूरी अनु-भूति हो गई है तो हाथी को वहाँ से ले जाने का आदेश सम्राट् ने दिया और भिक्षु को कहा—एकागी रूप से जब एक पक्ष बाहर का समर्थन करता है तथा दूसरा पक्ष अन्दर का समर्थन करता है तो उससे समस्या ही जटिल नही होती

वैसे ही जीवन का आत्मिक तत्व एक है—अन्तःकरण एक है। जैसा बाहर है वैसा ही भीतरी हिस्सा है। आत्म प्रदेश यदि एक हाथ मे नही हो तो वह हिलेगा डुलेगा भी नही। हाथ की प्रक्रिया चालू हो रही है तो समझिये की अन्दर की प्रक्रिया चालू हो रही हैं। अन्दर की प्रक्रिया चालू हो तो बाहर की प्रक्रिया भी चलने लगेगी। जो यह कहते हैं कि अन्दर है सो बाहर नही है तो यह नही हो सकता। यदि भीतर मे है तो बाहर अवश्य आयगा और यदि बाहर नही आ रहा है तो समझ लेना चाहिये कि भीतर कुछ भी नही है। चेतन भीतर मे है तो उसकी शुभ अथवा अशुभ क्रियाए बाहर आकृति पर तथा बाहर की प्रवृत्तियो मे अवश्य ही झलकेगी। यदि शरीर के भीतर मे चेतन नही है, वह मुर्दा हो गया है तो फिर कुछ भी होने वाला नही है।

यदि आप एकान्तत बाहर को लेकर चलते हैं तो यह भी गलत है। बाहर का नमस्कार यदि भीतर की प्रेरणा के बगैर होता है तो वह सही नही है। अन्दर की शक्ति को छोड कर अन्दर और बाहर को अलग-अलग टुकडो मे बाटना जीवन मे भटकने के बराबर है। जीवन को वास्तविक दृष्टि से पहिचानना है तो यही रूप लाना होगा कि भीतर और बाहर एक हैं तथा इनकी एक रूपता से ही श्रेष्ठ जीवन का निर्माण होता है। इस एकरूपता के भीतर और बाहर कई माध्यम हैं किन्तु उन सारे माध्यमो का मूल माध्यम अन्तःकरण होता है तथा इसी कारण अन्तःकरण का माध्यम समस्त जीवन का केन्द्र बिन्दु बन कर कार्यरत रहता है।

अन्तःकरण के केन्द्र बिन्दु से भीतर और बाहर का संचालन

यह समझिये कि मूल माध्यम अन्तःकरण के केन्द्र बिन्दु से ही भीतर और बाहर की समस्त वृत्तियो तथा प्रवृत्तियो का सचालन होता है। जो अन्दर में वृत्तिया उठती हैं, वे ही बाहर में प्रकट होकर प्रवृत्तियों का स्वरूप ग्रहण करती हैं। दोनो के पारस्परिक एव अन्योन्याश्रित सम्बन्धो के कारण ही दोनों की एकरूपता है। यदि अन्दर मे कोई बात उठे या बुरी बात उठे—वह आकृति पर दिखाई देने वाले अनुभावो मे अथवा सम्पादित किये जाने वाले कार्यों में झलके बिना नही रहेगी।

इसीलिये भगवान् महावीर ने कहा है—

हथ सजए, पाय सजए,
वाय सजए, सज इन्दिए।
अज्झपरो रए सुसमाहिअप्पा,
सुत्तत्थ च वियाणई जे स भिक्खू ॥

अर्थात् हाथ में सयम है, पैरों में सयम है, मन में सयम है, तो यह सयम कहाँ से आता है ? निश्चय है कि वह अन्त रण से ही आयगा। अन्दर और बाहर का एक रूप होगा, तभी सयम मन, हाथ, पैर आदि में ग्रहण किया जायगा। एकान्तत न अन्दर को स्वीकार किया गया हैं और न एकान्तत बाहर को। साधारण जनता अनिवादियो के वाक् छल के पीछे गुमराह हो जाती है। बुद्धिवादी भी जब एकान्तत सोचते हैं तो गुमराह हुए बिना नही रहते है।

जहाँ प्रमाद की बात बताई है, वहाँ भी यही उल्लेख है कि अप्रमत्त [illegible] वाला साधु चाहे उस सूत्र को अन्दर से प्रारभ करे या बाहर से लेकिन दोनो क्षेत्रो मे एक रूपता आयगी, तभी अप्रमत्त अवस्था पूर्णत कायम हो सकेगी। यही अहिंसा तथा प्रत्येक व्रत-पालन की स्थिति मे होता है। अन्दर बाहर को अलग-अलग देखने से कहीं भी काम नही चलता है—दोनो को एक रूप बनाना होगा। अन्दर है तो बाहर आयगा और बाहर है तो अवश्य अन्दर जायगा—यदि जीवन का वास्तविक स्वरूप है तो। घडे मे पानी भरा है तो बाहर अवश्य छलकेगा। जिस पहाड से झरना आ रहा है तो पहाड के भीतर पानी होता है तभी बाहर फूट कर आता है।

बाहर भीतर की एक रूपता का केन्द्र विन्दु होता है अन्त करण [illegible] सचालन में ही जीवन का बहुमुखी विकास सभव होता है।

साधना का प्रत्येक कार्य
अन्त करण पूर्वक करें।

करें क्योंकि ऐसी एक रूपता मे ही वह कार्य अन्तःकरण पूर्वक हो सकेगा। वन्दन को परम सुख शान्ति का हेतु माना है तो वन्दन का प्रारभ कैसे करेंगे? वन्दन का प्रारभ बाहर से हाथ जोड कर पीछे आगे विन्यास करके चालू करिये लेकिन वह वन्दन अन्तःकरण मे उतरे तथा भीतरी वृत्तियो को भी प्रभावित बनावे। जो शुद्धता अन्दर और बाहर दोनों जगह फैलेगी, वही वास्तविक शुद्धता होगी। यदि अन्दर मे भी शुद्धता परिपूर्ण व्याप्त हो गई तो वह शरीर के भीतर होकर बाहर निकले बगैर नही रहेगी। वह बाहर से भी व्रत परायण होगा—उसके हाथो तथा पैरो में भी सयम रहेगा।

भगवान् महावीर के आध्यात्मिक ज्ञान की प्रक्रिया समग्र विज्ञान को छूने वाली, भीतर और बाहर को एक रूप बनाने वाली तथा अन्तःकरण के माध्यम को सचालक स्थापित करने वाली है। इस प्रक्रिया को अपनाइये तथा साधना के प्रत्येक कार्य को अन्तःकरण पूर्वक सम्पन्न करने की चेष्टा रखिये।

(दि. ९–९–७७)

है, लेकिन असमानता की स्थिति से आत्मा और परमात्मा के बीच जो कुछ भी अन्तर है, उस अन्तर को दूर करने का समाधान भी इस आत्मा के ही पास है। आत्मा अपने स्वरूप को समझे, अपने मूल शुद्ध रूप की पहिचान करे यह आवश्यक है। यह चिन्तन का विषय होना चाहिये। प्रत्येक भव्य ससारी आत्मा के लिये कि मेरा शुद्ध स्वरूप परमात्मा के तुल्य होते हुए भी वर्तमान मे वैसा दृष्टिगत क्यों नही हो रहा है ?

इस चिन्तन मे जब आत्मा गहरी उतरेगी तो विदित होगा कि उसका यह जीवन अन्य पदार्थों के साथ विविध सयोग के बीच उतार चढाव की स्थिति मे चल रहा है। कभी दु ख का पहाड सामने आता है तो कभी सुखो के मनोहर दृश्य मन को आकर्षित बना देते हैं। कभी कुछ प्रलोभन सामने प्रदर्शन करता है तो कभी वहाँ निराशा की झलक मिलती है। अनेक प्रकार की वृत्तियाँ जिस मन मे तरगें ले रही हैं, उस मन की गतिविधि को भी यह आत्मा नियत्रित नही कर पा रही है—इस का क्या कारण है ?

मन आत्मा से बढकर आत्मा से ऊपर का तत्व नही है, लेकिन वही मन ऐसा उद्दड हो रहा है कि जिधर वह चाहता है, आत्मा को उस दिशा मे घसीट ले जाता है। मन आत्मा की ही कला है लेकिन यही कला आत्मा के सिर पर सवार होकर उसको कल की तरह घुमा रही है। द्रव्य मन और भाव मन की दृष्टि से विचार करे तो ज्ञात होगा कि भाव मन आत्मा की शक्ति है और उस शक्ति का जो कुछ भी परिणाम है—द्रव्य मन की स्थिति इस शरीर के साथ लगी हुई है और द्रव्य मन के माध्यम से यह आत्मा इस शरीर की सभी प्रक्रियाओ का निर्वाह कर रही है। यदि सीधे शब्दो मे सोचें तो यह द्रव्य मन आत्मा का ही बनाया हुआ है।

जिस आत्मा की अध्यक्षता मे इस शरीर की सरचना हुई हैं—पाच इन्द्रियाँ तथा मन की सृष्टि हुई है तो वह आत्मा मूल मे है। ये शरीर, मन तथा आत्मा इन्द्रियाँ आत्मा के अस्तित्व मे ही अपनी सारी गतिविधियो को सक्रिय रख पाती हैं। आत्मा के नही रहने पर ये सब निष्क्रिय हो जाते हैं। इस कारण महत्वपूर्ण तत्व है आत्मा—जिसके कारण इन सबकी सरचना हुई। आत्मा के लिये अध्यक्ष की उपमा एकदेशीय है तो उस स्थिति से आत्मा ने अपने आप को विस्मृत क्यो कर दिया है ? इस विस्मृति से विकृति पैदा

है, लेकिन असमानता की स्थिति से आत्मा और परमात्मा के बीच जो कुछ भी अन्तर है, उस अन्तर को दूर करने का समाधान भी इस आत्मा के ही पास है। आत्मा अपने स्वरूप को समझें, अपने मूल शुद्ध रूप की पहिचान करे यह आवश्यक है। यह चिन्तन का विषय होना चाहिये। प्रत्येक भव्य ससारी आत्मा के लिये कि मेरा शुद्ध स्वरूप परमात्मा के तुल्य होते हुए भी वर्तमान मे वैसा दृष्टिगत क्यों नही हो रहा है ?

इस चिन्तन मे जब आत्मा गहरी उतरेगी तो विदित होगा कि उसका यह जीवन अन्य पदार्थों के साथ विविध सयोग के बीच उतार चढाव की स्थिति में चल रहा है। कभी दुख का पहाड सामने आता है तो कभी सुखो के मनोहर दृश्य मन को आकर्षित बना देते हैं। कभी कुछ प्रलोभन सामने प्रदर्शन करता है तो कभी वहाँ निराशा की झलक मिलती है। अनेक प्रकार की वृत्तियाँ जिस मन मे तरगें ले रही हैं, उस मन की गतिविधि को भी यह आत्मा नियत्रित नही कर पा रही है—इस का क्या कारण है ?

मन आत्मा से बढ़कर आत्मा से ऊपर का तत्व नही है, लेकिन वही मन ऐसा उद्दड हो रहा है कि जिधर वह चाहता है, आत्मा को उस दिशा मे घसीट ले जाता है। मन आत्मा की ही कला है लेकिन यही कला आत्मा के सिर पर सवार होकर उसको कल की तरह घुमा रही है। द्रव्य मन और भाव मन की दृष्टि से विचार करे तो ज्ञात होगा कि भाव मन आत्मा की शक्ति है और उस शक्ति का जो कुछ भी परिणाम है—द्रव्य मन की स्थिति इस शरीर के साथ लगी हुई है और द्रव्य मन के माध्यम से यह आत्मा इस शरीर की सभी प्रक्रियाओ का निर्वाह कर रही है। यदि सीधे शब्दो मे सोचें तो यह द्रव्य मन आत्मा का ही बनाया हुआ है।

जिस आत्मा की अध्यक्षता के इस शरीर की सरचना हुई हैं—पाच इन्द्रियाँ तथा मन की सृष्टि हुई है तो वह आत्मा मूल मे है। ये शरीर, मन तथा आत्मा इन्द्रियाँ आत्मा के अस्तित्व मे ही अपनी सारी गतिविधियो को सक्रिय रख पाती हैं। आत्मा के नही रहने पर ये सब निष्क्रिय हो जाते हैं। इस कारण महत्वपूर्ण तत्व है आत्मा—जिसके कारण इन सबकी सरचना हुई। आत्मा के लिये अध्यक्ष की उपमा एकदेशीय है तो उस स्थिति से आत्मा ने अपने आप को विस्मृत क्यो कर दिया है ? इस विस्मृति से विकृति पैदा

होती है तथा विकृति इसको बन्धनो में डालती है – इसके रूप को कुरूप बनाती है । यही आत्मा और परमात्मा के बीच में दूरी का कारण है ।

किन्तु इस स्वरूप अन्तर को मिटाने का तथा परमात्म स्वरूप के समक्ष पहुच जाने का ज्ञान एव पुरुषार्थ भी इसी आत्मा के पास है । वह इनको जागृत एव कार्यरत बनाकर समकक्षता की स्थिति में पहुच सकती है ।

गौण प्रधान हो गया है
तथा प्रधान गौण

आत्मा के बन्धनों के विषय में यदि चिन्तन करेंगे तो यह बात स्पष्ट हो जायगी कि अनादिकाल से पर–पदार्थों के निरन्तर सम्पर्क से इस आत्मा ने अपने स्वरूप को गौण बना दिया है जो जीवन विकास की मूल धुरी है तथा प्रधान तत्व है और जीवन में पर–पदार्थों को परम प्रधानता दे दी है । चैतन्य स्वरूप इस आत्मा से भिन्न जितने भी तत्व इस ससार मे विद्यमान हैं, वे सब इस आत्मा के लिये परतत्व हैं । इन पर–तत्वों को इस विस्मृत आत्मा ने इतना अधिक महत्व दे दिया है कि जो निजत्व के महत्व से भी बढ गया है । ऐसा लगता है जैसे गौण प्रधान हो गया है तथा प्रधान गौण बन गया है ।

इस विपरीत वृत्ति का दुष्परिणाम यह हुआ है कि आत्मा बन्धनों से जकड गई है । कर्मों की बेडियों से यह बुरी तरह उलझ गई है । इस उलझन भरी अवस्था को देखकर ज्ञानीजन सहसा भव्य आत्माओं को सावधानी देते हैं कि यदि इस उलझन मे से अपनी आत्मा को निकालना चाहते हैं तो कर्मों से विमुक्त जो परमात्मा हैं, उनके परम विशुद्ध स्वरूप को अपने सामने रखें और उसके सहारे पुरुषार्थ करें । समुद्र में डूबते हुए व्यक्ति को जब समुद्र के बीच मे कोई टापू दिखाई देता है तो वह उसी ओर ध्यान रखकर वहाँ तक पहुचने की चेष्टा करता है । यदि उसका पुरुषार्थ सक्रिय बना रहता है तो वह वहाँ तक पहुच भी जाता है ।

वैसे ही इस ससार समुद्र के बीच में दृष्टिपात करें तो परमात्मा का ही अवलबन इस आत्मा के समक्ष इस आत्मा को विकास की ओर

करने में विशेष महत्वपूर्ण है। शास्त्रीय दृष्टि से भूगोल के रूप मे जहाँ असंख्य समुद्र माने गये हैं, उनके बीचोबीच मे जम्बू द्वीप माना गया है जो मुख्य मानव बस्ती है और मोक्ष का भी जो स्थान है वह भी ठीक इस जम्बू द्वीप की स्थिति मे सर्वोपरि है। इस स्थान का लक्ष्य यदि बनता है तो जिन कारणो से आत्मा इन बन्धनो मे पड़ी है, उन कारणो की खोज भी आसानी से की जा सकती है।

तब आत्मा को यह कारण समझ मे आ जायगा कि ये बंधन उसकी विकृति—उसकी कुरूपता की वजह से है जो उसने स्वय ने पैदा किये हैं। निज स्वरूप को जो जीवन मे प्रधान हैं, उसने गौण बना दिया है तथा बाहर के पदार्थ जिन्हे गौण रूप में रखा जाना चाहिये उनको उसने प्रधान रूप दे रखा है—यह उसकी विपरीत वृत्ति है जो सारी विकृति की जड है। इन दोनों को यदि वह अपने-अपने स्थान पर प्रतिष्ठित करदे तो वह अपनी गति को विकासोन्मुखी बना सकती है।

कपड़ों के दृष्टान्त से आत्मा के मैलेपन को समझिये

जब कोई व्यक्ति एक दम स्वच्छ कपडों वाले पुरुष को देखता है तो तुरन्त उसकी दृष्टि अपने कपडों की तरफ मुड जाती है। वह अपने मैले कपडों को देखता है तो उसको खयाल आता है कि उसके कपडे भी स्वच्छ होने चाहिये तथा उसका पुरुषार्थ जागता है कि वह भी अपने कपडो को स्वच्छ बना ले। 'मेरे कपडे भी स्वच्छ हो सकते हैं'—जब उसका यह विचार गहरा बनता है तो वह उस दिशा में अपना उपक्रम प्रारभ कर देता है। उसकी विचार धारा इस रूप में चलती है कि जिन तन्तुओ का कपडा यह पुरुष पहने हुए है और उसको वह जिस स्वच्छ रूप मे रखे हुए है, उन्ही ततुओ के कपडे को मैंने भी पहन रखा है लेकिन मेरे कपडो मे भारी गदापन है, मैल है और दुर्गंध है, जिसका कारण है कि मैंने बहुत दिनो से इसके मैल को धोने की कोशिश नही की है। जब इस कपडे को धारण किया था उस समय यह ऐसा ही स्वच्छ था लेकिन धीरे-धीरे कपडे के साथ रजकण लगते गये—चिकास का सयोग हुआ और यह कपडा कुरूप बनता गया। इस पर मैल और धब्बे बढते गये। जब धब्बे लग रहे थे तब तो मस्ती मे ध्यान नही दिया—सोचा कि कभी भी इसको धोकर के साफ कर दू गा। फिर धब्बे इतने ज्यादा लग

गये तो मैं बेभान बना रहा कि लगने दो—कपडा जब कुरूप ही हो गया तो अब क्या फिक्र है ? अब सारे कपडे चिकास से लथपथ हो गये हैं। मैल और धब्बो ने मिल कर सारे कपडो को इतना बदरग बना दिया है कि अब शर्म लगने लगी है और विचार हो रहा है कि इतने मैल को अब साफ करू तो कैसे करू ?

यह विचार धारा उसको जगाती है और वह अपने कपडो के मैल को दूर करने का उपाय ढूढता है। वह सोचता है कि इस मैल चिकास को दूर किये बिना कपडे अपनी वास्तविक स्वच्छता मे नही आ सकेंगे। वह इस मूल कारण को पकड लेता है। गीलेपन का सयोग होने के वक्त कपडो पर रेत लगती है तो वे रेत से भर जाते हैं लेकिन वह इतना बाधक नही होता है क्योकि पानी सूखा नही कि रेत को झटक देने से रेत सब नीचे गिर जाती है लेकिन चिकास वाली रेत या चिकनी मिट्टी जब कपडो पर जम जाती है तो वह मुश्किल से ही उडती है तथा उसके साथ जब कपडे घी—तैल के चिकास से भर जाते हैं तो फिर जगह—जगह पर धब्बे उभर आते हैं। उन धब्बो को निकालना अत्यन्त कठिन हो जाता है। लेकिन उनको देखकर भी एक पुरुषार्थी व्यक्ति अपनी हिम्मत नही छोडता है। जब वह हिम्मत के साथ आवश्यक साधन जुटा कर उन कपडो को धोने लगता है तो भले ही वक्त लगे, वह उनको स्वच्छ बना कर ही छोडता है।

ऐसे ही साहस के साथ जब एक साधक अपनी आत्मा के गहरे मैल और चिकास को धोने के लिये आवश्यक साधना के साथ निरन्तर प्रयत्न करता है तो एक दिन वह आत्मा के मूल स्वरूप को निखार कर ही रहता है। कपडे का दृष्टान्त मैंने इसी कारण रखा है कि यह आप लोगो के रोज के अनुभव का विषय है। इस विषय के माध्यम से आप अपनी आत्मा के मैलेपन को समझ सकते हैं तथा उसको धोने का प्रयास कर सकते हैं।

कषायो का गहरा चिकास

आत्मा रूपी वस्त्र पर भी घी तैल के चिकास की तरह कई प्रकार के अन्य चिकास लगे हुए हैं। चिकास के इन धब्बो में कषायों के सबसे ज्यादा गहरे धब्बे हैं, जिनका चिकास इस आत्मा की स्वच्छता मे भयकर रूप से बाधक

है । कपाय का तात्पर्य क्रोध, मान, माया तथा लोभ की वृत्तियो से है । ये चारो ही गाढे चिकास वाली वृत्तियाँ होती है और इनके माध्यम से ही आठो कार्यों के रजकण और इनमे भी अशुभ रजकण इस आत्मा के साथ सयुक्त होते रहते हैं और इस आत्मा के स्वरूप को मलिन बनाते रहते है । यह गदापन और यह मैलापन इस आत्म स्वरूप के साथ इस रूप मे सयुक्त हो गया है और वह उससे इतना दुर्गंधमय बन गया है कि आत्मा अपनी वास्तविक सुगंध को ही भूल गई है । कोई व्यक्ति यदा कदा ही दुर्गंध के पास जाता है तोउसकी नाक फटने लगती है कि यहाँ दुर्गंध कैसे फैल रही है और इस गन्दगी को कैसे हटावे—वह इस बाबत सोचता है । परन्तु जब वह लम्बे समय तक उस दुर्गंध के बीच मे रह लेता है तो फिर उस दुर्गंध की महसूसगिरी को भी वह भुला देता है और उस दुर्गंध से वह किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नही करता है । ऐसी ही अवस्था को आत्म विस्मृति की अवस्था कहते है ।

यही प्रसग आत्मा का बन गया है । वह इस सासारिक दुर्गंध के बीच मे रहते-रहते अपने स्वरूप की सुगंध से विस्मृत हो गई है । एक दो रोज की दुर्गंध होती तो उसको सकोच होता—घबराहट होती, लेकिन अनेकानेक जन्मो से जो दुष्कर्मों की दुख रूप दुर्गंध इसके लगी है, उस मे वह इतनी रच पच गई है कि उसे वह दुर्गंध दुर्गंध रूप मालूम नही होती है । आप ही बताइये कि क्या मालूम होती है ? सन्त भले ही कहदे या शास्त्रीय विधि से भले ही अनुभव कर लें, लेकिन क्या अपने हृदय की अनुभूति बताती है कि अपनी आत्मा इन कषायो की चिकास और दुर्गंध से अत्यन्त कुरूप बनी हुई है ?

आप बाहरी दुर्गंध अवश्य महसूस कर सकते हैं । गदी नाली के पास से निकलेंगे तो झट नाक पर रुमाल रखलेंगे और कहेगे कि बडी दुर्गंध आ रही है लेकिन आत्मिक दुर्गंध के बीच मे रहते हुए भी उस भयंकर दुर्गन्ध को महसूस तक नही करते हैं—यह कितनी विडम्बनाभरी बात है । बुरे विचारो की, मलिन भावो की, एक दूसरे के जीवन को नष्ट करने की तथा एक दूसरे को पछाडने की जो भावना है—वह क्यो बढ गई है ? इसके पीछे इन कषायो की दुर्गंध है । कोई धन के अभाव मे मरे तो मरे—मेरे पास तो धन का सचय होना ही चाहिये । साधारण व्यक्ति कष्ट पावे तो पावे मैं, तो अपने ऐश्वर्य का आडम्बर दिखाने वाली कुरीतियो का पोषण करूंगा ही । इस प्रकार के स्वार्थी विचार आज के मनुष्यो के मस्तिष्क मे दिन रात घूमते रहते है ।

क्या ऐसे कुविचारो की दुर्गंध को आप कभी महसूस करते हैं ? क्या आत्मा की ऐसी कुरूपता पर आप को कभी खेद होता है ? इन कषायो के चिकास को धो लेने की आपकी कभी-मनोवृत्ति होती है ? अन्दर की नासिका के भी कभी क्या पट लगाने का विचार होता है ? क्या इस दुर्गंध को हटा देने का भी कभी सकल्प बनता है ?

आज के मनुष्य इन प्रश्नों पर गहराई से शायद ही सोचते होगे । मैं यह कहू कि वे नही वत् ही सोचते हैं तो भी चले ।

नाशवान पदार्थों के प्रति दीवानापन

यह दिव्य स्वरूप में रहने वाली आत्मा अपनी दिव्यता को भूल करके नाशवान पदार्थो की भोगेच्छा से दीवानी बनी हुई है। इसका यह दीवानापन कितना गहरा है जिसका भी कुछ पता नही । कोई व्यक्ति भग का नशा ज्यादा कर ले तो वह कुछ समय के लिये अपना भान भूलता है । दारू का नशा कर लिया तो उसमे ज्यादा समय के लिये बेहोश होता है—गिर पडता है लेकिन उसकी भी अवधि है । लेकिन इस आत्मा की बेभान हालत ऐसी हो रही है कि कुछ पता नही यह बेभानी कब दूर होगी ? आत्मा की यह बेभानी कब से है ? इसे अनादिकाल से भान नही है । चिकास बढता जाता है और विकृति बढती रहती है तथा विकृति के बढने के साथ बेभानी बढती ही है । उससे आत्मा की चेतना कब जागेगी कि नाशवान पदार्थो के प्रति अपने दीवानेपन को कम करे और कषायो के गाढे रग को उतारने का प्रयास करे ?

जो चार प्रकार की कषाय बताई गई है, उनमे से एक कषाय सबकी जड है । वह कषाय क्रोध है । मान—यह क्रोध की अपेक्षा ज्यादा चिकास वाला होता है और माया का गाढापन तो मान से भी ज्यादा होता है । लेकिन लोभ तो इतना प्रचड होता है कि उसके गाढेपन को भेदना ही दुष्कर कार्य है । इन चारो कषायो मे और विशेष रूप से लोभ की वृत्तियो में इस आत्मा की गुण रूपी शक्तियाँ इस कदर उलझ गई हैं कि उनको सुलझने में कठिन पुरुषार्थ की अपेक्षा है । इन कषायो के बदरग इस तरह आत्म-स्वरूप पर चढ़ गये हैं कि आत्मा को उसके अपने स्वरूप से पहिचानना भी कठिन हो गया है । एक स्वरूपवती आत्मा इतनी कुरूप बन जाय—इसकी कल्पना भी नही की जा सकती है । कषायो के रगो में सराबोर होकर यह आत्मा निज

स्वरूप को एक दृष्टि से भूल ही गई है ।

प्रभु महावीर ने इस तथ्य को पहिचाना तथा स्वयं ने अपने आत्मिक स्वरूप की परिपूर्ण अवस्था प्राप्त की । उस परिपूर्ण अवस्था मे पहुच कर उन्होने ससार को भी उपदेश दिया कि हे भव्य जनो, तुम भी यदि अपनी आत्मा का मेरी आत्मा के तुल्य पवित्र रूप बनाना चाहते हो तो कषायो से छुटकारा पाने की बात को पकडो और सबसे पहले इस लोभ से दूर हटो । उन्होने कहा—

लोभाविले आययई अदत्त । उत्तराध्ययन सूत्र और घोषणा की कि यह लोभ इन आठों क्रूर कर्मों की जड में रहा हुआ है । लोभ और माया की कलुषित वृत्तियों मे आत्माएँ अपने आपको रग रही हैं । इन रगो मे रगने के कारण ही ये आत्माएँ नही ग्रहण करने योग्य तत्वो को भी ग्रहण करने के पीछे दौड लगा रही हैं । ये नही करने योग्य कर्मों को भी कर रही हैं ये नही जाने योग्य स्थानो पर भी जा रही हैं और इनको कर्त्तव्याकर्त्तव्य तथा हिताहित का भान भी नही रह गया है । लोभ आदि कषायो का गाढा रग चढा कर ये कुरूप बन गई हैं ।

लोभ आदि कषायो के दुष्चक्र में आत्मा की ग्रस्तता

इस विकराल लोभ के ससार मे अनेकानेक रूप देखने को मिलते हैं। जागरूक आत्मा भी सावधानी रखते–रखते किसी रूप में उलझ जाती है । ऐसे ही कोध, मान, माया के रूप हैं जो आत्म स्वरूप पर अपना रग उडेलने को तैयार रहते हैं । ये रूप अलग–अलग तरह से अपने अलग–अलग कार्य इस आत्मा से कराते रहते हैं और इन कषायो के दुष्चक्र में आत्मा इस प्रकार ग्रस्त हो गई है कि उसमें से उसका निकल पाना इच्छामूलक ही नही, परम पुरुषार्थ—मूलक हो गया हैं ।

आप कभी सोचें कि यदि इस लोभ को छोड देंगे तो हम गृहस्था–श्रम में कैसे रहेगे ? और गृहस्थाश्रम में नही रहेगे तो क्या साधु बन जायेंगे ? सभी साधु बन जायेंगे तो ससार कैसे चलेगा ? तो क्या आपको ज्यादा फिक्र संसार की है, स्वय की आत्मा की नही ? ससार की फिक्र भी हो तो कोई बात नही, लेकिन मूल में अपनी कषायो की फिक्र है—अपनी विकृति की फिक्र है ।

शायद यह चाह है कि संसार विकारग्रस्त रहे और उसमें मैं रहूं। इसलिये कहा यह जाता है कि सब साधु बन जायेंगे तो ससार का कार्य कैसे चलेगा? ससार की सार मभाल आपके जिम्मे नही है—कुदरत का काम कुदरत देखती रहेगी। ज्ञानीजनो ने कहा है कि यदि आप ससार मे रहना पसन्द करते हैं और इतना साहस नही है कि साधु जीवन को अगीकार करके आत्म—पट को स्वच्छ बना लें तो गृहस्थाश्रम को भी उच्चस्तरीय बना कर चलें। यह नही कि गलियो मे घुमते फिरें और पता नही चले। वृद्धत्व आ रहा है तो ससार का भार सन्तान को देकर अपनी आत्मा को कषायो के दुष्चक्र मे से बाहर निकालने का यत्न करें।

ससार में रहते हुए आप को कषाय चाहिये और लोभ भी चाहिये तो नीति कहती है कि इन वृत्तियो में जो 'अतिपना' है, कम से कम उसको तो छोडें। अति लोभ भी नहीं करना चाहिये। कहा है—

अतिलोभो न कर्त्तव्य लोभ नैव परित्यजेत्।
अति लोमाभिभूतस्य, चक्र भ्रमति मस्तके॥

जिन पदार्थों की शरीर के लिये आवश्यकता है, परिवार के पोषण के लिये जिन पदार्थों की आवश्यकता है, उन पदार्थों को छोड कर जीवन में जो अधिक तृष्णा फैली हुई है—उसका तो परित्याग कर लें। जिन्दगी भर ससार में रगडते-रगडते वृद्ध हो गये हैं, जो कुछ धन दौलत इकट्ठी की, आत्मा को काली बनाई तो अब अपनी आत्मा को धोने की चेष्टा करें, अपरिग्रह की स्थिति को अपनावें तथा दीन दु खियो मे अपनी सम्पत्ति को वितरित करदें। यदि इतना त्याग भी नहीं हो तो उस सम्पत्ति को अपने पुत्रो मे बाट कर ही अपने ममत्व से तो मुक्ति पा लें। यह तो कोई त्याग नहीं है, फिर भी स्वय तो निर्लिप्त बनें। लेकिन कई आत्माओ का ढग बडा विचित्र होता है। मृत्यु के मु ह मे अन्तिम सास ले रहे हैं, फिर भी लोभ गडे हुए धन का तब भी पता नहीं बताने देता है। पुत्र भले ही रोते गिडगिडाते रहे, लेकिन अपना ममत्व नही छूटता।

प्राण छूट जाते हैं
मगर कषायी आत्मा का ममत्व नहीं छूटता

कषायो से रगी कुरूप आत्मा के प्रगाढ ममत्व के बारे में क्या कुछ

कहूं, एक रूपक रखदूं ।

पदमपुर नगर मे परमार्थ नामके राजा राज्य करते थे । वहाँ एक लोभसार नामका सेठ था, जिसके पास अपार सम्पत्ति थी । वह बडी गरीबी से रहता और सारे धन को डडे सहेज कर रखता । उसकी मोह दशा गाढ़ी थी । उसके चार पुत्र थे—धन्ना सेठ के पुत्र थे मगर वे जैसे तैसे बडे हो रहे थे । पुत्र वडे हुए तब भी वे उसको बडे अखरते थे । वे बहुत समझाते कि आप धर्म ध्यान करो और इतना ममत्व मत रखो, मगर उसके कुछ भी नही लगती । पुत्र स्वय कमाकर खर्च करते वह भी उसको नही खटता । उसने सोचा कि मैं अपने धन को ऐसा गहरा गाड दूं कि इनको कतई पता ही नही चले । वह मौके की तलाश मे था कि एक दिन एक जीमणवार मे सभी को जीमने जाने का प्रसग आया । सेठ ने सोचा—यह ठीक मौका है, सभी जीमने जायेंगे और मैं अकेला रहूगा तब गडे हुए धन को निकाल कर अधिक गुप्त स्थान पर छिपा दूगा । घर वाले सब जीमने चले गये तब उसने अन्दर से कुडी चढाली और सोने की मोहरो से भरे चरू को वहाँ से निकाल कर बाड़े मे घास के पूलो के नीचे छिपा दिया और तय किया कि कल दोपहर मे इसको अन्यत्र गाड दूंगा । स्थान उसको श्मशान ठीक लगा जहा कोई देखने वाला नही रहता है । दूसरे दिन दोपहर में वह चरू को लेकर श्मशान मे पहुचा—एक गहरा खडडा खोदा और उसमे चरू को छिपा दिया । बाद मे उसने देखा कि एक छतरी मे भिखमगा सोया हुआ था । अब वह आशकित हुआ कि कहीं उसने चरू को गाडते हुए देख न लिया हो वरना वह उसे निकाल कर ले जायगा । वास्तव मे भिखमगा सब देख रहा था लेकिन उसने सेठ को अपनी तरफ आते हुए देखा तो अपनी सास को मस्तक मे चढा कर मुर्दे की तरह पड रहा । सेठ पास मे पहुचा, उसको हिलाया डुलाया, उसकी अगुली नाक और कान की लोल तक काटी पर भिखमगा मजबूत रहा और सेठ ने परीक्षा करली कि वह तो मुर्दा है । सन्तुष्ट होकर सेठ वहाँ से चला गया ।

सेठ के चले जाने के काफी समय बाद भिखमगा उठा, उसने अपने घावो को ठीक किया और वहाँ से धन के उस चरू को निकाल कर अपने स्थान पर ले गया तथा वहाँ उसने उस चरू को गाड दिया । चरू के ऊपर कुछ हीरे की अगूठियां थी, उनमे से एक पहिन ली और कुछ को लेकर वह सोनार के पास पहुचा । उसको उसने कहा—मैं हीरो की कीमत जानता नही

हूँ तुम ही ईमानदारी से इसकी कीमत लगा कर मुझे दे दो। इतने मे उधर से सेठ निकला तो उसने देखा कि ये तो अगूंठियाँ उसी की हैं। सेठ ने सोनार से खुद रुकने और उस आदमी को भी रोक लेने को कहा तथा भागा-भागा श्मशान पहुँचा। वहाँ चरू नही मिला। वापिस आकर उसने उस आदमी को पकड़ा। आखिर मामला राजा के सामने पहुचा। राजा ने दीवान जी को न्याय करने को कहा।

दीवान जी ने उस भिखमगे से पूछा—सच्ची-सच्ची बात बता दो। उसने कहा—मैंने तो सौदा किया है, अपनी वस्तुएँ देकर धन लिया है। मैंने कोई चोरी थोडे ही की है। मैंने अगुली दी, नाक दी, कान की लोल दी। यह कह कर उसने अपने कटे हुए अग दिखाये। सेठ ने भी उस घटना की सत्यता स्वीकार करली। तब भिखमगे ने कहा—सेठ जी मेरी चीजें मुझे वापिस देदें तो मैं भी उनका धन उनको दे दूगा। अब सेठ का मुह फक् पड गया—कटे हुए अग अब कहाँ थे। दीवान ने यही निर्णय दिया। लोभी सेठ का धन खुद के पास नही रहा, पुत्रो के पास नही रहा और तीसरा ही भिखमगा ले गया।

मैं सकेत दे रहा था कि गृहस्थी में रहते हुए लोभसार सेठ की तरह मत रहना। "अति सर्वत्र वर्जयेत्" अत गृहस्थ जीवन में रहते हुए भी कषायो को छोडें और ममत्व को त्यागें—यह वाछनीय है।

कषायो से रगी कुरूप आत्मा को साधुता से सुरंगी बनावें

कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा को गलत रास्ते पर ले जाने वाले जो तत्व हैं, वे कषायें हैं और उनमे भी लोभ का विकट कार्य है। यह हद पार लोभ की बात है कि लोग अपनी सन्तानो की नीलामी और बिक्री कर रहे हैं—पहले लडकियाँ बिका करती थी, अब डके की चोट लडके बिक रहे हैं। उसके बाद भी बेचने वालो की समाज मे प्रतिष्ठा मानी जाती है। अधिकाश सामाजिक कुरीतियाँ इसी लोभ के फल स्वरूप समाज मे फैल रही हैं। इस लोभ को-इन कषायों के घातक प्रभाव को नही समझेंगे तो यह आत्मा ससार परिभ्रमण करती हुई जगह-जगह कष्ट पाती ही रहेगी।

कषायों के रंग से रंगी इस कुरूप आत्मा को यदि वास्तव में सुरंगी बनाना चाहते हैं, तो उसका एक मात्र उपाय साधुता है। साधु बन जाएँ तो धन का सब प्रपंच ही छूट जाय। गृहस्थ मे रहने वाला व्यक्ति समुद्र के तुल्य पाप करता है तो साधु उस सबसे बच जाता है। उसका पाप सुई के तुल्य भी नही होता। सच्चे साधु की यही अवस्था होती है। मैं साधु वेशधारी की बात नहीं कर रहा हू जो अपने को साधु बताकर भी चन्दे चिठ्ठे के प्रपंचों में फसे रहते हैं। ज्ञानी जन कहते हैं कि जो साधु एक कौडी भी अपने पास में रखता हैं वह कौडी का होता है।

सच्ची साधुता की साधना से ही कषायो का चिकास रंग आत्म स्वरूप पर से उतर सकता है तथा आत्मा धुल कर स्वच्छ बन सकती है। आवश्यकता इस बात की है कि आत्मा को स्वच्छ बनाने का संकल्प सुदृढ हो जाय।

(दि. १०-९-७७)
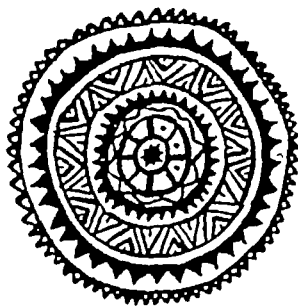
मानव जीवन: एक विराट् वृक्ष

श्री सुपार्श्व जिन वंदिए ....

इस मानव जीवन की गहनतम वृत्तियो को पहिचानने के लिये गहनतम विचार की अपेक्षा है। चिन्तन की धारा जहाँ ऊपर से ऊपर के स्तरो मे चलती है तो वह स्थूल पदार्थों का विवेचन करती हुई भीतर के पटो मे प्रवेश करती है तथा अपने निज स्वरूप का साक्षात्कार करती है। यही चिन्तन धारा कभी-कभी इतनी उच्चतम एव उत्कृष्ट श्रेणियो मे प्रवाहित हो जाती है कि जन्म जन्मान्तरो और वर्षो का काम पलो में ही पूरा हो जाता है तथा वह मानव जीवन की सम्पूर्ण सार्थकता को सिद्ध कर देता है।

सामने खडा वृक्ष बहुत बडा दिखाई दे रहा है, लेकिन जानते हैं कि

इस वृक्ष की उत्पत्ति कहाँ से हुई ? वृक्ष का मूल कारण कितना बडा है ? ऊपर की टहनियो और पत्तियो को देख कर साधारण व्यक्ति सोच सकता है कि इतना बडा वृक्ष है तो इस का बीज भी बहुत बडा होगा। लेकिन बुद्धिमान व्यक्ति यह जानता है कि जहाँ तक बीज का प्रश्न है, वह अति ही छोटे रूप में होता है जितना बडा वृक्ष होगा, उसका बीज उतना ही छोटा होगा। वर्तमान वृक्षो में वड या वट वृक्ष बहुत वडा होता है। आम और अन्य वृक्षो की अपेक्षा भी वट वृक्ष का घेराव बहुत अधिक होता है। लेकिन उसका बीज आपने देखा है ? वट वृक्ष का बीज राई से भी छोटा होता है। धूल मे पडा हुआ वह बीज सहसा दिखाई नहीं देगा, लेकिन उसी छोटे से बीज की बदौलत

एक विराट् वट वृक्ष लहलहाने लगता है। इसी रूप मे मानव जीवन एक विराट् वृक्ष के मानिन्द है जिसका बीज छोटा होता है, लेकिन जब लहलहाता है तो अपनी शीतल एवं शान्तिदायक छाया से सम्पूर्ण विश्व तक को घेर सकता है।

मानव जीवन की विराटता दुर्लभता और श्रेयस्करता

इस मानव जीवन की ओर आप दृष्टिपात करें। आगम भाषा में कहा गया है—

"माणुसत्त सुदुल्लहं"

मनुष्य जीवन दुर्लभ है। नरक की अपेक्षा अति उत्तम, पशु योनि से श्रेयस्कर तथा देव योनि से भी श्रेष्ठ इस मानव जीवन को जिस अपेक्षा से दुर्लभ कहा गया है, उसके विषय मे यदि आप चिन्तन करें तो उस दुर्लभता की सही प्रतीति आपको हो सकती है। यह दुर्लभता शरीर के रग रूप से आकने की बात नही है, न ऊपर की पोशाक और साज सजावट से इसका ज्ञान होता है। इस मानव जीवन की—इसकी आन्तरिकता की जो विराटता और दुर्लभता ज्ञानियो ने अपने ज्ञान मे देखी है और बताई है, उसका गहरा अध्ययन और अनुभव करने से ही वह किसी की भी अनुभूति मे आ सकती है।

मानव जीवन की शक्ति के माध्यम से ज्ञान और कर्म की जितनी विराटता उत्पन्न की जा सकती और प्रकट की जा सकती है, उतनी अन्य किसी भी जीवन मे नही की जा सकती है। मानव जीवन इस रूप मे इतना शक्तिशाली होता है, किन्तु इसकी शक्तियाँ दबी और छिपी हुई होती हैं जिन्हे अपने पुरुषार्थ और पराक्रम से प्रकट एव सक्रिय बनानी होती है। ये शक्तियाँ जब जीवन में प्रकट हो जाती हैं तो वे इस मानव जीवन को अत्यन्त भव्य स्वरूप प्रदान कर देती हैं। तब यह मानव जीवन विराट् भी दिखाई देता है और श्रेयस्कर भी। उस स्वरूप की आन्तरिक अनुभूति जितनी गहरी बन जाती है, तब स्पष्ट अनुभव होता है कि यह मानव जीवन कितना दुर्लभ है, क्योकि ऐसा स्वरूप किसी अन्य जीवन मे प्राप्त नही होता है। यह विचार जब आ जाता है और यह प्रतीति हो जाती है कि यह जीवन दुर्लभ है तो इसके सदुपयोग की सतर्कता भी पैदा हो जाती है। इस रूप में मानव-जीवन की दुर्लभता श्रेयस्करता

तथा विराटता ये तीनो परस्पर सम्बन्धित तथा अन्योन्याश्रित होती हैं।

मानव जीवन को प्राप्त करके भी जो अपने आप को हीन या क्षुद्र ही समझ कर चलता है, वह एक प्रकार से शक्तिहीन ही बना रहता है और इस अमूल्य जीवन को निरर्थक कर देता है। शक्ति का पुंज होते हुए भी अपनी उस शक्ति से अपरिचित रह जाने को, महान् दुर्भाग्य के सिवाय और क्या कह सकते हैं ?

मानव जीवन:
एक विराट् वृक्ष

सम्पूर्ण प्राणी वर्ग में यह मानव जीवन एक विराट् वृक्ष के मानिन्द है। वट वृक्ष कई मीलो मे फैल सकता है, लेकिन इस मानव जीनव की विराटता का जब विस्तार होता है तो वह विस्तार समूचे विश्व को अपनी बाहो मे समेट लेता है। कारण, मानव जीवन की मूल चेतना आत्म शक्ति सब कुछ करने में समर्थ होती है। ससार का ऐसा कोई महद् कार्य नही, जिसको यह आत्मा सम्पन्न न कर सके। इस आत्मा ने विभिन्न पर्यायो की दृष्टि से सब कार्य किसी न किसी रूप से सम्पादित किये हैं। अनादिकाल से यह आत्मा ससार के भव चक्र में परिभ्रमण कर रही है और इस दृष्टि से कोई भी कार्य इससे अछूता नही रहा है। इसने सब कुछ किया तथा सब कुछ करने की शक्ति इसमे है, लेकिन जो अवसर अपने सामर्थ्य को कार्यान्वित करने के इसको अन्य योनियो में प्राप्त नही हुए, वे अवसर भी उसको इस मानव जीवन मे प्राप्त हैं।

यह आत्मा इस मानव जीवन का पूर्ण सदुपयोग करले तथा अपनी प्राप्त शक्तियो को सम्पूर्ण रूप से अभिव्यक्त बना ले तो सर्वोच्च पद-परमात्मपद को भी इस जीवन मे प्राप्त कर सकती है। यह विराटता इस मानव जीवन मे है। परमात्मा की शक्ति, उसकी सर्वज्ञता, सर्व दृष्टि एव स्वरूप महिमा का वर्णन शब्दो के माध्यम से शक्य नही है। शब्द परमात्मा के समग्र स्वरूप को व्यक्त करने मे मूक हैं। शब्दों के माध्यम से तो उसके कुछ ही गुणों का वर्णन किया जा सकता है, लेकिन परमात्मा का आदर्श फिर भी इस जीवन के लिये सर्वोच्च आदर्श होता है। यह आदर्श वर्णनीय कम, किन्तु आचरणीय अधिक

माना गया है तथा ज्यो–ज्यो इस आदर्श पर आचरण गहरा हो जाता है, त्यों–त्यो इस आदर्श का स्वरूप अपनी अनुभूति मे उतरता जाता है। परमात्मा का स्वरूप मुख्य रूप से अनुभूतिगम्य ही होता है। इस जीवन की गहनता एव यथार्थता को समझने के लिये प्रारभ भी वैसा ही होना चाहिये जिससे इस जीवन की महत्ता स्पष्ट हो सके।

आपके समक्ष अभी प्रार्थना की पक्तियो का उच्चारण किया गया। प्रार्थना का अभ्यास आपके जीवन मे ढल रहा है। आप देखें कि यह अभ्यास कोरी आदत के रूप मे न रह जाय, बल्कि इस अभ्यास से ज्ञान दृष्टि का विकास होना चाहिये। जब प्रार्थना के अभ्यास से आप का अन्तर्ज्ञान प्रस्फुटित हो—आपका अन्त करण जागृत बने तब समझिये कि यह प्रार्थना वह प्रारभिक तैयारी है जिसके धरातल पर मानव जीवन के विराट् वृक्ष को अकुरित, पल्लवित, पुष्पित तथा फलित बनाया जा सकता है।

मानव जीवन मे कर्मठता चाहिये

ज्ञान शक्ति के माध्यम से प्रार्थना के स्वरूप को तथा उसके माध्यम से परमात्म स्वरूप को मन मस्तिष्क में उतारना एव उसके आशय को हृदयगम करना यह मानव जीवन में श्रेष्ठता को साधने का प्रारभिक प्रयास है। सहसा व्यक्ति प्रार्थना के शब्दों को ही पकड पाता है। वह देखता है कि ये शब्द ही प्रार्थना के समग्र रूप मे है सो मैं इन्ही को प्रार्थना मान कर भगवान् से अपनी याचना कर लू। लेकिन ज्ञानी कहते हैं कि एक सच्चे भक्त को भगवान् से कोई याचना नही करनी चाहिये। मानव तो स्वय भगवान् का रूप होता है, वह छोटी मोटी याचना करके वैसी उपलब्धि करले और सन्तुष्ट हो जाय तो समझिये कि मानव ने अपने जीवन का मूल्याकन ही नही कियाहै। वह समझ ही नही पाया है कि उसके जीवन मे अन्तर्निहित शक्ति कितनी महान् और दिव्य है?

मानव जीवन मे तो ज्ञान दृष्टि एव दृढ आस्था के साथ कर्मठता होनी चाहिये। एक साधक को अपना कर्म तटस्थ भाव से करता रहना चाहिये; उसके मन में भी फल के प्रति याचना भाव नही आना चाहिये। कर्मठता यदि जीवन के साथ घुल मिल जाती है तब फल तो अपने आप ही मिल जाता है। गीता मे भी कहा है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते,

मा फलेषु कदाचन ।

कर्म करना अपने अधिकार में है इसलिये फल की इच्छा नही रखनी चाहिये । मनुष्य कर्त्तव्य करने का अधिकारी है फल पाने का नही । प्रार्थना शब्द का अर्थ याचना कभी नहीं समझना चाहिये । यदि याचना का अर्थ लिया जाता है तो वह उसका गलत अर्थ है । प्रार्थना का ऐसा अभिप्राय कभी नही निकलता है । प्रार्थना परमात्म स्वरूप के प्रति भक्ति रस मे आत्म विभोर होकर ही की जा सकती है । इसके पीछे तात्त्विक जिज्ञासा की दृष्टि भी रहती है । भक्ति के कई प्रकार हैं और भक्ति की कई विधियां हैं, लेकिन उसका मूल अन्तर्भाव यही है कि आत्मा परमात्मा के साथ एकाकार बने ।

मानव जीवन के आन्तरिक विस्तार को पाने के लिये यही एकात्मकता आवश्यक होती है । इसमें जिज्ञासा भक्ति तथा ज्ञान भक्ति की विशेषता मानीगई है । ज्ञान भक्ति की कोटि जिज्ञासा भक्ति से ऊँची होती है । ज्ञान भक्त की प्रार्थना अपने जीवन की गहनतम समस्याओ को सुलझाने के लिये होती है—अन्तरिकता को जानने तथा उसके रहस्यो को ढूढने के लिये होती है । सही ज्ञान की उपलब्धि बुनियादी तौर से जरूरी होती है, क्योंकि सही ज्ञान नही होता तो स्वरूप निर्णय नही होता है और उसके प्रति आस्था का दृढ़ीकरण नही बनता है । सही ज्ञान के प्रकाश मे ही लक्ष्य के प्रति उत्साह जागृत होता है एव कर्मठता सक्रिय बनती है । पुरुषार्थ की सफल प्रेरणा सच्चे ज्ञान से ही होती है तथा सच्चे ज्ञान से ही फल की इच्छा समाप्त होती है । जहाँ फल की कामना नही हो तथा निष्काम कर्म किया जाय, वहाँ मानव जीवन का विराट् रूप अवश्य ही उपस्थित किया जा सकता है ।

सभी मानव सुख चाहते हैं, लेकिन सुख कहां मिलेगा ?

जब इस आत्मा ने मानव शरीर में निवास किया है, ज्ञान शक्ति उसके साथ ही मिली है । यह स्थायी भाव के रूप में है । स्थायी भाव जन्मजात भी होते हैं और अर्जित भी होते हैं । मानव जीवन में ज्ञान का विशिष्ट स्थान होता है । उसका ज्ञान अन्य प्राणियों की अपेक्षा सर्वोन्नत होता है तो

वह उस ज्ञान को सर्वोच्च स्थिति तक भी ले जा सकता है। उसी ज्ञान की दृष्टि से वह सुख की अभिलाषा बनाता है। यह दूसरी बात है कि उसकी ज्ञान की धारा शुभता की ओर बहती है अथवा अशुभता की ओर। जैसा उस धारा का स्वरूप होगा, वैसे ही सुख का विचार होगा। लेकिन ज्ञान के अन्तर्गत जब सुख का शब्द कान के माध्यम से मस्तिष्क तक पहुचता है तो स्वाभाविक रूप से इस जीवन की प्रक्रिया में उत्तेजना आ जाती है। प्रत्येक मानव सुख चाहता है, दुःख को मिटाना चाहता है तथा अपने जीवन को सुख से भर देना चाहता है।

लेकिन यह सुख क्या है ? कैसा है और कहाँ मिलेगा ? दुख किस अवस्था का रूप है तथा वह क्यो सताता है ? सुख और दुख का सही भान कैसे हो ? इसका वास्तविक विज्ञान पवित्र बुद्धि के साथ परमात्मा द्वारा बताये हुए मार्ग का अनुसरण करने पर ही हो सकता है। आज का इन्सान बातें खूब कर सकता है, पर वह चलना पसन्द नही करता—भाषण दे देगा मगर अनुसरण करना नही चाहता। वह आराम चाहता है और आराम मे सुख का अनुभव करता है। यदि मेहनत करनी पडती है तो वह सोचता है कि मैं दुखी हू। प्रतिकूल बात सामने आती है तो व्यक्ति उद्वेलित हो जाता है। देखता है कि सामने बाधा आ गई है और वह दुखी हो उठता है। वह उस दुख से छुटकारा पाना चाहता है, फिर भी पुरुषार्थ मे कतराता है। पुरुषार्थ नही तो सुख कहाँ से मिलेगा ?

एक व्यक्ति फल का रस लेना चाहता है लेकिन फल को नहीं चाहता है। यह कैसे हो सकता है ? जब फल का रस चाहता है तो फल भी चाहना ही पडेगा—फल को छोड कर रस कैसे प्राप्त कर सकेगा ? दूसरी तरफ दृष्टिपात करें तो दूसरा व्यक्ति फल के रस से घबराता है, लेकिन फल को पकड करके चलता है। इन विरोधी वृत्तियों को समझने की आवश्यकता है जिससे शरीर की व्याधि का स्वरूप स्पष्ट हो सके। जब तक वृत्तियो मे यथार्थता और समरसता का समावेश नही होता है, तब तक सुख की सही अनुभूति भी नहीं हो पाती है। सुख को चाहना एक बात है लेकिन सुख की प्राप्ति के लिये सही प्रयत्न करना तथा सच्चे सुख को प्राप्त करना दूसरी ही बात होती है।

आज का मानव
मानव की तरह नहीं जी रहा है

आज की दुनिया की वृत्तियाँ विचित्र ढग से चल रही हैं। आज मानव जीवन जिया नही जा रहा है, लोग जैसे तैसे जी रहे हैं। जिया जाने में और जीने मे वडा अन्तर पडता है। एक नो मनुष्य अपने जीवन को स्वाभाविक गति मे जिए और एक उसी जीवन को पशु की तरह जिए। सामान्यत आज का मानव मानव की तरह नहीं जी रहा है। आत्म–चेतना जागृत हो और वही समग्ररूपेण जीवन का सचालन करती हो, तब कहा जायगा कि मानव अपना जीवन जी रहा है। अन्यथा अपनी चेतना शक्ति को सज्ञाशून्य वना कर जो जीवन जिया जाता है, वह जीवन पशुवत् ही होता है। ऐसा जीवन मनुष्य जैसे–तैसे जीता है।

आज का मानव आत्म विस्मृत अवस्था में अधिक जीता है—सावधानी पूर्वक विवेक के साथ जीने का अवसर बहुत कम आता है। इसका कारण यह है कि वह फल के रस से घबराता है—उसको छोडना चाहता है लेकिन फल को ग्रहण करना चाहता है। वह फल भी मीठा नही, कडवा है। नीम का फल देखा है आपने, जिसको निम्बोली वोलते हैं? निम्वोली के भीतर एक गिरी होती है, उसका जायका कभी आपने चखा है? उसका रस कटुक होता है। नीम के कडवे रस को कोई नही चाहता हर कोई मीठा रस लेना चाहता है। निम्वोली पकने पर ऊपर से मीठी हो जाती है तो उस मीठे रस को तो ले लेंगे और कडवी गिरी को छोडना चाहेंगे। फिर भी कडवापन भीतर मे वैठा हुआ है सो आयगा अवश्य।

ऐसा ही मानस आज के मानवों का वना हुआ है। अधिकाश मानव दुःख रूपी रस को छोडना चाहते हैं, लेकिन दुःख का जो फल है, उसको ग्रहण करते रहते हैं। दुःख मे घवराते हैं, पर फल मे नही घवराते। जब फल को ग्रहण किया जायगा तो उसमें रहे हुए रस से कैसे वचित रह सकेंगे? आप पूछेंगे कि दुःख किसका रस है? दुःख मोह रूपी फल का रस है। मोह आप को अच्छा लगता है, जैसे निम्वोली के ऊपर का रस अच्छा लगता है। मोह में आप रात दिन रमण कर रहे हैं। अधिकाश लोगो के मन में यह मोह सारी जगह घेर कर वैठा हुआ है। यह जीवन का केन्द्र विन्दु वन गया है। यह केन्द्र बिन्दु ही घोर दुःख का कारण वना हुआ है, फिर भी मनुष्य इस मोह का परित्याग करने के लिये तत्पर नही बनता है।

ऊपर से सभी स्तरों पर मानव यही दिखाता है कि वह समाज या राष्ट्र आदि की भलाई के लिये कार्य कर रहा है लेकिन मन के तले में बैठा यह मोह उसके जीवन को स्वार्थों के घेरे में घेर कर संकुचित बनाता रहता है। जीवन का वस्तुत विस्तार होना चाहिये लेकिन मोह दशा के कारण उसका सकोच होता जाता है। यदि दृष्टि अन्दर में पहुचे तथा ज्ञान वृद्धि हो जाय, तब ही पता चले कि यह मानव जीवन अपने स्वाभाविक विस्तार की तरफ बढ रहा है या मोहग्रस्त होकर सकुचित स्वरूप की तरफ जा रहा है। यह सारी प्रवृत्ति बाहर से हो रही है। बाहर से इसको बनाने वाला मोह है। जिस व्यक्ति ने नशा कर लिया और नशा दिल दिमाग पर छा गया तो उस वक्त जो भी प्रवृत्ति की जायगी, उस की वह स्वयं सही परीक्षा नही कर सकेगा। दूसरे भी उस वक्त वह जो भी बात बोलता है, उसको नही मानते हैं। वह अच्छी से अच्छी बात बोलेगा तब भी कोई समझदार यही समझेगा कि नशे बाज का क्या भरोसा दूसरे ही क्षण वह बुरी बात भी बोल सकता है, बुरा कार्य भी कर सकता है। कभी वह माता को माता कह देता है तो कभी वह पत्नी को माता कह देता है। इसलिये कि वह नशे में है।

यह बाहरी नशा है। एक मोह का नशा है जो उपद्रव कर रहा है और इसी नशे के कारण आज का मानव मानव की तरह नही जी पा रहा है।

कड़वा फल ले लेंगे
तो कड़वा रस जरूर मिलेगा

निम्बोली की तरह मोह रूपी इस कडवे फल को ले लेंगे तो आखिर जाकर कडवा रस जरूर मिलेगा। मोह का नशा करलें और जीवन अस्वस्थ न बने—यह कैसे हो सकता है ? आज सारी दुनिया मोह के इस नशे में झूम रही है। मोह का यह नशा भीतर तक उतर कर आत्मविस्मृति की अवस्था उत्पन्न कर देता है। हकीकत में मोह का विवेकशून्य प्रभाव आत्मा पर ही पडता है। जैसे मदिरा आदि के नशे से यह शरीर श्लथ हो जाता है, वैसे ही मोह के नशे से आत्मा सज्ञा शून्य सी बन जाती है। जब बाहर का नशा ही भारी पडता है तो भला भीतर के नशे से पिंड कैसे और कब छूटेगा ?

मन्दर में रहने वाले तत्वों को पहिचानते नहीं हैं, इसलिये आत्म विस्मृति की दशा से ऊपर भी नहीं उठ पा रहे हैं। मोह का रस पीने को लालायित बने रहते हैं लेकिन जब उसका परिणाम दुःख रूप में प्रकट होता है तो उस फल से घबराते हैं। जब दुःख का काम करेंगे तो दुःख क्यों नहीं आयगा? जब कड़वा फल ले लेंगे तो कड़वा रस कैसे नहीं मिलेगा? नीम का फल तो ले लिया, ऊपर का जायका मीठा निकला तब तक तो खुशी हुई, लेकिन जब भीतर से कड़वाहट आई तो हाय-हाय करने लगे। मोह की दशा के कारण मानव का ऐसा विचित्र स्वभाव बन जाता है।

एक सेठ बाजार में दुकान पर बैठा हुआ ग्राहकों से बातें कर रहा था। सहसा बच्चे ने आकर सूचना दी कि गोदाम में आग लग गई है। गोदाम में माल भरा हुआ है—उस समय उस सूचना को पाकर सेठ की क्या मनोदशा होगी? पहले वह प्रसन्नता पूर्वक बैठा हुआ था। फिर यह समाचार सुनते ही उसको दुःख हुआ किन्तु कुछ क्षण बाद ही उसे याद आया कि इस गोदाम का तो बीमा कराया हुआ है तो उसका वह दुःख भी मन्द पड़ गया। उसने सोचा कि यह नुकसान मेरा नहीं, बीमा कम्पनी का हुआ है। मुझे तो नुकसान के पैसे बीमा कम्पनी से मिल जायेंगे। पहले दुःख हुआ और फिर दुःख चला गया—इसमें क्या रहस्य था?

एक पुरुष दुकान पर बैठा हुआ है और विदेश से उसके पुत्र की मृत्यु हो जाने का तार आया। वह उसे पढ़ते ही अत्यन्त दुःखी हो गया—उसे मूर्छा सी आने लगी। इतने में मुनीम जी ने जानकारी दी कि वह पुत्र आपका निजी नहीं था। हुआ तो आपकी पत्नी से ही है लेकिन वह किसी दूसरे व्यक्ति की सन्तान है। यह बात जानते ही उसको जो भीषण दुःख पुत्र वियोग से हो रहा था, वह रहेगा या चला जायगा? उसको उस समय दुःख के बदले रोष पैदा हो जायगा, बल्कि वह शस्त्र लेकर खड़ा हो जायगा कि पुत्र गया तो ठीक, उसकी दुराचारिणी पत्नी भी क्यों रहे? देखिये दो क्षण पहले भयंकर दुःख था और वह बाद में क्यों चला गया?

अब इन दोनों स्थितियों का विश्लेषण कीजिये। जहाँ गोदाम के कारण सेठ का ममत्व था कि यह मेरा गोदाम है। मोह ने जोर पकड़ा और दुःख चला आया। पता चला कि मुझे सम्पत्ति की हानि नहीं है तो दुःख वापिस

चला गया। इसी तरह मेरा पुत्र मर गया है—यह जानते ही घोर मोह उमडा और भयकर दुख होने लगा लेकिन ज्यो ही पुत्र के आगे से 'मेरा' शब्द कट गया तो सारा दुख चला गया। तो आप समझ गये कि दुख कैसे आता है और कैसे चला जाता है ? दुख का कारण मोह होता है। इस मोह को को वैचारिकता के साथ भी समाप्त किया जा सकता है—कडवा रस हटाया जा सकता है।

सुख चाहिये तो मोह छोड़िये

दुनिया नीम के फल को पकड रही है और चाहती है कि सुख और शान्ति मिले, किन्तु यह हो कैसे सकता है ? मोह और दुख का तो जोडा है। यह शास्त्रीय पाठ मे आया है कि जिसको मोह हो रहा है, उसको दुख हो रहा है और जिसका मोह चला गया तो उसका दुख भी चला गया। मोह का रस ही दुख होता है। मोह चला गया तो तृष्णा नही रहेगी और तृष्णा का बीज नही रहा तो लोभ का झाड भी नही लगेगा। इस तरह से दुख के ये जितने बीज, वृक्ष, फल और रस हैं, उनको छोडेगे, तभी सच्चा सुख मिलेगा। तलवार की धार पर लगे शहद को चाटने जायेंगे तो शहद का स्वाद तो आवे या नही आवे, मगर जीभ जरूर कट जायगी। मछली आटा देखकर काटे की तरफ लपकती है और काटे मे फस जाती है। मोह का दीवानापन भी ऐसा ही होता है।

एक नगर मे दो पडोसी थे। दोनो बड़े प्रेम से रहते थे, जैसे एक घर मे रह रहे हो। एक पडोसी के यहाँ सम्पत्ति बढ गई और दूसरे के यहाँ सम्पत्ति का अभाव खटने लगा। दूसरे के मन मे तृष्णा जागी कि मेरे पास भी इतना ही धन हो जावे। एक दिन धनवान पडौसी की लडकी जेवरो से लदी हुई गरीब पडौसी के घर मे आई। तृष्णा का बीज बढ कर गरीब पडौसी के मन मे लोभ का झाड फैल गया था। उसने उस बच्ची की हत्या करके सारा जेवर ले लिया और लाश को कोठे के नीचे दबा कर ऊपर पक्का इन्तजाम कर लिया। धनवान पडौसी अपनी बेटी के बारे मे बहुत चिन्तित हुआ और जब उसका पता नही चला तो उसने पुलिस मे रिपोर्ट कर दी। गरीब पडौसी सोचने लगा कि कही मैं पकडा न जाऊ—इस डर से ये सारे परिवार वाले धनवान परिवार वालो के साथ समान भाव से दुख प्रकट करने

लगे ताकि वे इन पर शका न करें। मोह सब नाटक करवा देता है।

उधर पुलिस भी बराबर हत्या का पता लगाने की कोशिश कर रही थी। एक दिन गरीब पड़ोसी की लडकी थाली में मिठाई, नारियल पुजापा लेकर जा रही थी। पुलिस ने वैसे ही टोक दिया कि वह कौन है और कहाँ जा रही है—क्योंकि उस दिन कोई त्योहार या विशेष दिन नहीं था। बच्ची थी, उसने निर्दोष दिल से बता दिया कि वह फला फला की लडकी है तथा पिताजी ने मनौती मनाई थी कि मेरा नाम नही आवेगा तो देवी को पुजापा चढाऊगा सो मैं पुजापा लेकर जा रही हू। पुलिस ने अनुमान लगा लिया। बच्ची को जाने दी और उन्होने जाकर घर पर छापा मारा। चोर के पाव कैसे होते है? सारा भेद खुल गया और लाश बरामद कर ली गई।

दो प्रेम से रह रहे परिवारो के बीच ऐसा जघन्य कार्य करने वाला राक्षस कौन आया? यह मोह का राक्षस था—लोभ का राक्षस था। दुनिया का इतिहास उठाकर देख लीजिये—जितने युद्ध और सघर्ष हुए हैं, उनके पीछे यही राक्षस रहा है। महाभारत का युद्ध किस आधार पर हुआ? सुई जितनी जमीन नही देंगे—यह कौरवों का मोह ही तो था। आज अधिकांश परिवार इस राक्षस से प्रभावित और पीडित नही हैं? क्या मानव इस राक्षस के वश मे होकर परिवार, समाज तथा राष्ट्र के प्रति अपने कर्त्तव्यों को नही भूल रहा है? जो मानव जीवन विराट् वृक्ष का रूप लेकर ससार के समस्त प्राणियों के प्रति सहृदयता का प्रतीक बनना चाहिये, क्या वही श्रेष्ठ मानव जीवन इस राक्षस के कुप्रभाव से सकुचित होकर आज भाई-भाई के खून का प्यासा नहीं हो रहा है? सच्चा सुख और स्थायी शान्ति चाहिये तो ऐसे मोह को छोडना होगा।

अपने जीवन की विराटता को सदा स्मरण मे रखिये

मनुष्य अपने जीवन मे साधुता अगीकार कर लेता है तो वह छः काया के समस्त जीवों का प्रति पालक बन जाता है। यही तो जीवन का वास्तविक विस्तार है। जो जीवन मोह युक्त होता है, वह स्वार्थी होता है और स्वार्थ सदा जीवन को सकुचित बनाता है क्योंकि स्वार्थी व्यक्ति सहृदय नहीं रहता पत्थर हो जाता है। सदा स्मरण मे रखिये कि यह मानव जीवन विराट्

वृक्ष के समान है, जो अपने व्यवहार मे आने वाले तथा अन्य समस्त जीवो पर अपने हृदय का स्नेह बरसाता है । इस विराट् जीवन को मोह और लोभ मे पकड कर छोटा मत बनाइये । इस नशे से दूर ही रहिये ।

वर्तमान मानव जीवन की गहनता को समझिये । इस जीवन मे रहते हुए वास्तविक सुख शान्ति चाहिये तो प्रभु के ज्ञान को सम्मुख रख कर जगत् के समस्त प्राणियो पर आत्मीयता बरसावें तथा वीतराग देवों के आदर्श के अनुसार अपने जीवन को विकास पथ पर अग्रगामी बनावें ।

(दि. ११-६-७७)